वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४८ अंक ११ नवम्बर २०१०
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ११

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं । सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां
विद्वानहंतां न जहाति यावत् ।
तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ता-
प्यस्त्वेष वेदान्तनयान्तदर्शी।।१६२।।

अन्वय – विद्वान् अपि एष वेदान्त-नयान्तदर्शी अस्तु, यावत् असति देह-इन्द्रिय-आदौ भ्रम-उदितां अहंता न जहाति, तावत् तस्या विमुक्तिवार्ता न अस्ति ।

अर्थ – कोई विद्वान् व्यक्ति भले ही वेदान्त-न्याय आदि शास्त्रों में पारंगत हो, तथापि जब तक वह इस मिथ्या देह-इन्द्रियों आदि में भ्रम से उत्पन्न हुई अहंता (मैं-भाव) को नहीं त्यागता, तब तक उसकी मुक्ति की कोई बात ही नहीं उठती !

छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे
यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे ।
यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचि-
ज्जीवच्छरीरे च तथैव माऽस्तु।।१६३।।

अन्वय – यथा छाया-शरीरे प्रतिबिम्ब-गात्रे यत् स्वप्न-देहे हृदि कल्पित-अङ्गे तव काचित् आत्मबुद्धिः न अस्ति; तथा एव जीवत्-शरीरे च मा अस्तु ।

अर्थ – जैसे शरीर की छाया में, शरीर के प्रतिबिम्ब में, स्वप्न में देखे हुए शरीर में तथा मन में कल्पना किये गये शरीर में तुम्हारी जरा भी आत्मबुद्धि नहीं आती, उसी प्रकार जीवित शरीर में भी आत्मबुद्धि नहीं आनी चाहिये ।

देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां
जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम् ।
यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्ना-
त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ।।१६४।।

अन्वय – यतः देहात्मधीः एव असत् धियाम् नृणाम् जन्म-आदि-दुःख-प्रभवस्य बीजम् – ततः त्वम् ताम् प्रयत्नात् जहि, त्यक्ते तु चित्ते पुनः भव-आशा न (भवति) ।

अर्थ – चूँकि देह में आत्मबुद्धि ही अशुद्ध चित्तवाले लोगों के जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु आदि दुःखों का कारण है, अतः तुम इस देहात्म-बुद्धि को खूब यत्नपूर्वक त्याग दो । इस चित्त का त्याग कर देने पर पुनः जन्मादि की सम्भावना नहीं रहती ।

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं
प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः ।
येनात्मवानन्नमयोऽनुपूर्णः
प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु ।।१६५।।

अन्वय – पञ्चभिः कर्मेन्द्रियैः अञ्चितः अयम् प्राणः तु प्राणमयः कोशः भवेत्, येन अनुपूर्णः आत्मवान् असौ अन्नमयः सकल-क्रियासु प्रवर्तते ।

अर्थ – पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश हुआ है । इसी के भीतर से पूरित होने से अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) चेतनावान् होकर समस्त कार्यों में प्रवृत्त होता है ।

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो
गन्ताऽऽगन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः ।
यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं
स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः।।१६६।।

अन्वय – प्राणमयः अपि वायुविकारः आत्मा न एव, यस्मात् एषः वायुवत् अन्तः गन्ता बहिः आगन्ता, किंचित् क्व अपि इष्टम् अनिष्टम् स्वम् वा अन्यम् वा किञ्चन न वेत्ति, नित्यं परतन्त्रः ।

अर्थ – यह प्राणमय कोश भी वायु का विकार है, क्योंकि यह श्वास-प्रश्वास के जैसे भीतर जाता और बाहर आता है; उसे जरा भी भला-बुरा, अपना-पराया जरा भी नहीं समझता, नित्य परतंत्र होने से (यह प्राणमय कोश भी) आत्मा नहीं है ।

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(मारू-बिहाग–कहरवा)

(निज) चरणों में स्वीकार कर लो,
मेरे प्रणाम, ठाकुर, मेरे प्रणाम ।।

हे करुणामय मंगलकारी,
सुनकर महिमा-कथा तुम्हारी;
शरण माँगने आ पहुँचा हूँ, तज दारा अरु दाम ।। ठा. ।।

अन्तर मेरा निर्मल कर दो,
श्रद्धा-भाव-भक्ति से भर दो;
रसना जपती रहे सदा ही, मधुर तुम्हारा नाम ।। ठा. ।।

अब न कभी मुझको बिसराना,
रहकर संग राह दिखलाना;
अन्तिम क्षण 'विदेह' ले जाना,
अपने चिन्मय धाम ।। ठा. ।।

– २ –

(वागेश्री–कहरवा)

दरशन दो अबकी बार ।
आया ठाकुर शरण तुम्हारी, खोलो निज करुणा का द्वार ।।

मन उपवन में फूल खिले जो,
चुनकर भाव सहित मैं उनको,
लाया हूँ अर्पित करने को, चरणों में कर लो स्वीकार ।।

जीवन में तुमको पाना था,
पर पथ बीहड़-अनजाना था,
तो भी आ पहुँचा हूँ दर पर, करता बाधाओं को पार ।।

छूट चुका है भव से नाता,
विषय-खेल अब चित न लुभाता,
टूट गया सपना तो समझा, अब 'विदेह' तुमको ही सार ।।

बल और श्रद्धा लाओ

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी के कुछ चुनी हुई उक्तियों का एक संकलन 'Thus Spake Vivekananda' शीर्षक के साथ मद्रास के श्रीरामकृष्ण मठ से प्रकाशित हुआ था। उसी का हिन्दी अनुवाद हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। हर उक्ति के साथ १० खण्डों वाले 'विवेकानन्द साहित्य' ग्रन्थ की खण्ड-संख्या तथा पृष्ठ-संख्या भी दी गई है। उद्धरण किसी अन्य ग्रन्थ का होने पर उसका तदनुरूप उल्लेख किया गया है। – सं.)

* हमें खून में तेजी और स्नायुओं में बल की आवश्यकता है – लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु चाहिए, न कि दुर्बलता लानेवाले वाहियात विचार। (५.१७२)

* नीतिपरायण तथा साहसी बनो, अन्त:करण पूर्णतया शुद्ध रहना चाहिए। पूर्ण नीतिपरायण तथा साहसी बनो – प्राणों के लिए भी कभी न डरो। धार्मिक मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ में माथापच्ची मत करो। कायर लोग ही पापाचरण करते हैं, वीर पुरुष कभी पापाचरण नहीं करते – यहाँ तक कि कभी वे मन में भी पाप का विचार नहीं लाते। प्राणिमात्र से प्रेम करने का प्रयास करो। (१.३५०-५१)

* मैंने कभी प्रतिशोध की बात नहीं की। मैंने सदा बल की बात की है। क्या हम स्वप्न में भी समुद्र की फुहार की बूँद से बदला लेने की कल्पना करते हैं? लेकिन एक मच्छर के लिए यह एक बड़ी बात है।(१०.२१७)

* काम में लग जाओ। कितने दिनों के लिए है यह जीवन? संसार में जब आये हो, तो एक स्मृति छोड़ जाओ। वरना पेड़-पत्थर भी तो पैदा और नष्ट होते रहते हैं। (६.१३०)

* मेरे बच्चों को सबसे पहले वीर बनना चाहिए। किसी भी कारण से तनिक भी समझौता न करो। सर्वोच्च सत्य की मुक्त रूप से घोषणा कर दो। प्रतिष्ठा के नष्ट हो जाने या अप्रिय संघर्ष होने के भय से पीछे मत हटो। यह निश्चय जानो कि यदि तुम प्रलोभनों को ठुकराकर सत्य के सेवक बनोगे, तो तुममें ऐसी दैवी-शक्ति आ जायगी, जिसके सामने लोग तुमसे उन बातों को कहते डरेंगे, जिन्हें तुम सत्य नहीं समझते। यदि तुम अडिग भाव से निरन्तर चौदह वर्ष तक सत्य की अनन्य सेवा कर सको, तो तुम जो कुछ कहोगे, लोग उस पर विश्वास करेंगे। (१.३२७)

* केवल हमारे ही शास्त्रों में ईश्वर के लिए 'अभी:' विशेषण का प्रयोग किया गया है। हमें 'अभी:', निर्भय होना होगा, तभी हम अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करेंगे। (५.२१२)

श्रद्धा

* जो आत्मविश्वास नहीं रखता, वही नास्तिक है।... तुममें से जिन लोगों ने उपनिषदों में सबसे अधिक सुन्दर – कठोपनिषद् का अध्ययन किया है, उन्हें स्मरण होगा कि किस तरह वे राजा एक महायज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे और दक्षिणा में अच्छी अच्छी चीजें न देकर अनुपयोगी गायें और घोड़े दे रहे थे। उक्त कथा के अनुसार उसी समय उनके पुत्र नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। मैं तुम्हारे लिए इस 'श्रद्धा' शब्द का अंग्रेजी अनुवाद न करूँगा, क्योंकि यह गलत होगा। समझने के लिए अर्थ की दृष्टि से यह एक अद्भुत शब्द है और बहुत कुछ तो इसके समझने पर निर्भर करता है। हम देखेंगे कि यह किस तरह शीघ्र ही फल देनेवाली है। श्रद्धा के आविर्भाव के साथ ही हम नचिकेता को स्वयं ही इस तरह बोलते हुए देखते हैं – "मैं बहुतों से श्रेष्ठ हूँ, कुछ लोगों से छोटा भी हूँ, परन्तु कहीं भी ऐसा नहीं है कि सबसे छोटा होऊँ, अत: मैं भी कुछ कर सकता हूँ।" (८.१२; ५.२१२-१३)

* उसका यह आत्मविश्वास और साहस बढ़ता गया और जो समस्या उसके मन में थी, उस बालक ने उसे हल करना चाहा – वह समस्या मृत्यु की समस्या थी। इसकी मीमांसा यम के घर जाने पर ही हो सकती थी, अत: वह बालक वहीं गया। निर्भीक नचिकेता यम के घर जाकर तीन दिन तक प्रतीक्षा करता रहा, और तुम जानते हो कि किस तरह उसने अपना अभीष्ट ज्ञान प्राप्त किया। (५.२१३)

* इस श्रद्धा को तुम्हें पाना ही होगा। पश्चिमी जातियों द्वारा प्राप्त की हुई जो भौतिक शक्ति तुम देख रहे हो, वह इस श्रद्धा का ही फल है, क्योंकि वे अपने दैहिक बल के विश्वासी हैं, और यदि तुम अपनी आत्मा पर विश्वास करो तो वह और कितना अधिक कारगर होगा? (५.२१३)

* इसके लिए हमें श्रद्धा की ही जरूरत है; हमें, यहाँ जितने भी लोग हैं, सभी को इसकी जरूरत है। इसी श्रद्धा को प्राप्त करने का महान् कार्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। हमारे राष्ट्रीय खून में एक प्रकार के भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है हर विषय को हँसकर उड़ा देना, गम्भीरता का अभाव, इस दोष का पूर्णरूपेण त्याग करो। वीर बनो, श्रद्धा सम्पन्न होओ, बाकी सब कुछ तो इसके बाद आ ही जायगा। (५.२१३)

* विश्वास, सहानुभूति – दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिए। ... श्रद्धा, श्रद्धा ! अपने आप पर श्रद्धा, परमात्मा में श्रद्धा – यही महानता का एकमात्र रहस्य है। (१.४०५, ५.८६)

* कठोपनिषद् का वह महावाक्य स्मरण आता है – 'श्रद्धा' या अटल विश्वास। नचिकेता के जीवन में 'श्रद्धा' का एक सुन्दर दृष्टान्त दिखायी देता है। इस श्रद्धा का प्रचार करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है। मैं तुम लोगों से फिर एक बार कहना चाहता हूँ कि यह श्रद्धा ही मानव जाति के जीवन का और संसार के सब धर्मों का महत्त्वपूर्ण अंग है। सबसे पहले अपने आप पर विश्वास करने का अभ्यास करो। ... तुम लोग धनी-मानियों और बड़े आदमियों का मुँह ताकना छोड़ दो। याद रखो, संसार में जितने भी बड़े बड़े और महान् कार्य हुए हैं, उन्हें गरीबों ने ही किया है। ... दृढ़चित्त बनो और इससे भी बढ़कर पूर्ण पवित्र और धर्म के मूल तत्त्व के प्रति निष्ठावान बनो। विश्वास रखो कि तुम्हारा भविष्य अत्यन्त गौरवपूर्ण है। (५.३३४-३५)

* हम तो उसी सर्व शक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – भला हम 'कुछ नहीं' कैसे हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं, और मनुष्य को सब कुछ करना ही होगा। ... अतएव, भाइयो ! तुम अपनी सन्तानों को उसके जन्म-काल से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च और उदात्त तत्त्व की शिक्षा देना शुरू कर दो। ... आत्मा की पूर्णता के इस अपूर्व सिद्धान्त को सभी सम्प्रदायवाले समान रूप से मानते हैं। (५.२६७-६८)

* हमारे पूर्वजों में ऐसा ही दृढ़ आत्मविश्वास था। इसी आत्मविश्वास रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें सभ्यता की उच्च से उच्चतर सीढ़ी पर चढ़ाया था। और, अब यदि हमारी अवनति हुई हो, हममें दोष आया हो तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्मविश्वास गँवाया, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हो गयी। आत्म-विश्वास-हीनता का मतलब है – ईश्वर में अविश्वास। (५.२६७)

* मैंने पाश्चात्य देशों में जा कर क्या सीखा? ईसाई सम्प्रदायों के इन निरर्थक कथनों के पीछे कि मनुष्य पापी और सदा से निरुपाय पापी था, मैंने क्या देखा? देखा कि अमेरिका और यूरोप दोनों की उन्नति के कारण रूप उनके राष्ट्रीय हृदय में महान् आत्मश्रद्धा भरी हुई है। (५.८६-८७)

* एक अंग्रेज बालक कह सकता है, "मैं अंग्रेज हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूँ।" एक अमेरिकन या यूरोपियन बालक इसी तरह की बात बड़े दावे के साथ कह सकता है। (५.८७)

* हमारे भारतवर्ष के बच्चे क्या इस तरह की बात कह सकते हैं? कदापि नहीं। लड़कों की कौन कहे, लड़कों के बाप भी इस तरह की बात नहीं कह सकते। हमने अपनी आत्मश्रद्धा खो दी है। ... भारत का कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा नहीं है, जो यह सिद्धान्त न मानता हो कि भगवान हमारे अन्दर हैं और देवत्व सबके भीतर विद्यमान है। हमारे वेदान्त-मतावलम्बियों में जो भिन्न-भिन्न मतवादी हैं, वे सभी यह स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा में पहले से ही पूर्ण पवित्रता, शक्ति और पूर्णत्व अन्तर्निहित है। (५.८७, ८७)

* आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितना दु:ख और बुराई है, उसका अधिकांश गायब हो जाता। (८.१२)

* मानव जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है तो वह है यही आत्मविश्वास। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी। (८.१२)

* धर्म के बारे में कभी झगड़ा मत करो। धर्म सम्बन्धी सभी झगड़ा-फसादों से केवल यह प्रकट होता है कि आध्यात्मिकता नहीं है। धार्मिक झगड़े सदा खोखली बातों के लिए होते हैं। जब पवित्रता नहीं रहती, जब आध्यात्मिकता विदा हो जाती है और आत्मा को नीरस बना देती है, तब झगड़े शुरू होते हैं, इसके पहले नहीं। (४.१८३)

* सिद्धान्तों की परवाह मत करो; मतवादों, सम्प्रदायों, चर्चों तथा मन्दिरों की परवाह मत करो; क्योंकि वे, प्रत्येक मनुष्य के अस्तित्व की सारतत्त्व – आध्यात्मिकता की तुलना में नगण्य हैं तथा जिस मनुष्य में यह जितनी अधिक उन्नत होगी, अच्छाई की दृष्टि से वह व्यक्ति उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। सर्वप्रथम उसे अर्जित करो तथा किसी की निन्दा मत करो। अपने जीवनों द्वारा यह प्रदर्शित करो कि धर्म का अर्थ शब्दों, नामों तथा सम्प्रदायों में नहीं अपितु इसका अर्थ आध्यात्मिक अनुभूति है। (*रेमिनिसेंसेज ऑफ स्वामी विवेकानन्द* [अंग्रेजी], पृ. २९१)

* सच्चा विश्वास एवं सदुद्देश्य निश्चय ही जय-लाभ करेंगे, और इन दोनों अस्त्रों से सुसज्जित होने पर मुट्ठी भर लोग भी सारे विघ्न-बाधाओं को पराजित करने में समर्थ होंगे। (९.२४७)

* जिन लोगों में सत्य, पवित्रता और नि:स्वार्थपरता विद्यमान हैं, उन्हें स्वर्ग, मर्त्य या पाताल की कोई भी शक्ति क्षति नहीं पहुँचा सकती। इन गुणों के रहने पर, चाहे सम्पूर्ण विश्व ही किसी व्यक्ति के विरुद्ध क्यों न हो जाय, वह अकेला ही उसका सामना कर सकता है। (९.२४८)

* **उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।** (अर्थात् उठो ! जागो ! तथा लक्ष्य-प्राप्ति होने तक रुको मत)। (४.१६६)

❑❑

रामकथा जगपावनि गंगा (१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में २५ मार्च १९७४ ई. को प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

भगवान राम का चरित्र इस देश के लिये नया नहीं है। अनगिनत कवियों ने श्रीराम के चरित्र का वर्णन किया। अनेक रामायणों का निर्माण हुआ और उनके साथ एक-एक शब्द जोड़ दिया गया – अध्यात्म-रामायण, लोमश-रामायण, भुशुण्डि-रामायण या आनन्द-रामायण, आदि आदि।

रामकथा मन्दिर है, या गंगा

रामायण का अर्थ है – भगवान राम का मन्दिर। रामायण का निर्माण तो हुआ था, परन्तु गोस्वामीजी ने जिस ग्रन्थ का निर्माण किया, वह रामायण नहीं है, यद्यपि प्रचलित भाषा में उसे भी रामायण कहते हैं, उसका नाम है 'राम-चरित-मानस' और गोस्वामीजी ने इसकी तुलना गंगा से की है। मन्दिर और गंगा में जो पार्थक्य है, वही पार्थक्य अन्य रामायणों और राम-चरित-मानस में है। मन्दिर हमारी श्रद्धा का केन्द्र है, पर वह एक विशेष देश (स्थान) में स्थित होता है, उसका द्वार समय से खुलता है, और व्यक्ति श्रद्धा से देवता को दूर से प्रणाम करता है। मन्दिर कहता है, "पहले स्नान कर लो, योग्य बनो, तब मेरे पास आओ" परन्तु गंगाजी की विशेषता क्या है? गंगाजी कहती हैं, "बेटा, तुम जैसे भी हो, वैसे ही आ आओ।" देवता और दर्शन करनेवाले के बीच जो दूरी होती है, वह गंगाजी और स्नान करनेवाले के बीच नहीं रह जाती। इसे यों कह सकते हैं कि भगवान राम की महिमा-मण्डित मूर्ति तो न जाने कितने महापुरुषों ने स्थापित की; पर भगवान राम के मंगलमय चरित्र की जो दिव्य रसवन्ती धारा है, जिसमें हम भगवान को श्रद्धावनत होकर दूर से प्रणाम नहीं करते, अपितु भगवान के अति निकट पहुँच जाते हैं, उनसे मिल सकते हैं, यह विशेषता वस्तुत: तुलसीदासजी के श्रीराम में है और यही विशेषता उनके द्वारा रचित ग्रन्थ में है।

कीर्ति, ऐश्वर्य तथा काव्य गंगा जैसा हो

जब गोस्वामीजी से पूछा गया – कविता की श्रेष्ठता की क्या परिभाषा है? तो उन्होंने कहा – मेरी दृष्टि में तीन चीजों की श्रेष्ठता की एक ही परिभाषा है। वे तीन वस्तुएँ हैं – कीर्ति, ऐश्वर्य और कविता –

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।। १/१४/९

कीर्ति वह है, जो गंगा के समान सबके कल्याण के लिये उन्मुक्त हो, वैसे ही काव्य की श्रेष्ठता यही है कि वह सबके लिये समान रूप से उपयोगी हो। इस दृष्टि से विचार करें तो गंगा के साथ 'मानस' की बड़ी सार्थक तुलना हो सकती है।

भगवान शंकर भी जब पार्वतीजी के समक्ष रामकथा की प्रशंसा करते हैं, तो यही बात कहते हैं –

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जगपावनि गंगा।। १/१११/७

– तुम रघुनाथजी की कथा सुनना चाहती हो, जो सभी लोकों के लिए जगत् को पवित्र करनेवाली गंगाजी के समान है।

महिमा के स्थान

हमारे यहाँ पौराणिक मान्यता यह है कि वैसे तो गंगाजी सर्वत्र पवित्र हैं, लेकिन तीन स्थानों में वे विशेष रूप से पवित्र हैं। 'मानस' में भी गोस्वामीजी ने लिखा है – गंगाजी ने पृथ्वी पर तीन ही स्थानों को बड़ा (तीर्थ) बनाया है –

गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे।
एहिं किए साधु समाज घनेरे।। २/२८७/४

वे तीन स्थान कौन-से हैं? प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है – वैसे तो गंगा सर्वत्र हैं, पर तीन स्थानों में विशेष पवित्र हैं – **हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागर-संगमे।** इसमें गंगा की श्रेष्ठता का किस प्रकार प्रतिपादन किया गया? यदि आदि, मध्य तथा अन्त की दृष्टि से कहा जाय, तो हरिद्वार के स्थान पर गंगोत्री का नाम लिया जाना चाहिये – गंगोत्री, प्रयाग और गंगासागर। यदि इस रूप में वर्णन किया जाता, तो लगता कि गंगा का उद्‌गम और उसके पश्चात् गंगा-यमुना-संगम और इसके पश्चात् गंगा का जाकर के समुद्र में समर्पित हो जाना, विलीन हो जाना – इन्हीं को महत्त्व दिया गया है।

लेकिन गंगोत्री के स्थान पर हरिद्वार को क्यों महत्त्व दिया गया। इस पर विचार करने से एक ही बात समझ में आती है। क्या? जब हम गंगाजी का अवतरण चाहते हैं, तो हमें हिमालय की कठिन चढ़ाई पार करके गंगोत्री तक पहुँचना पड़ता है और तब कहीं जाकर के गंगा-दर्शन हो पाता है और वह भी कुछ समय के लिये ही हो पाता है, क्योंकि गंगोत्री में अधिक रुकना सम्भव नहीं है। परन्तु वे ही गंगाजी जब

गंगोत्री से उतरकर के हरिद्वार में आती हैं, तब व्यक्ति के लिये दुर्लभ नहीं, अपितु सुलभ हो जाती हैं। कविता की भी श्रेष्ठ विशेषता यही है कि उसको समझने के लिये गंगोत्री की यात्रा न करनी पड़े, अपितु जैसे गंगाजी गंगोत्री से उतर करके व्यक्ति के लिये हरिद्वार में सुलभ हो जाती हैं, वैसे ही काव्य को भी दुर्लभ के स्थान पर सुलभ होना चाहिये। परन्तु यह भी ध्यान रखिये कि केवल सुगमता ही कोई विशिष्टता नहीं है। तब तो बच्चे जो तुकबन्दी करते हैं, वह भी सुलभ काव्य हो जायगा। ऐसे काव्य मिलते हैं, जो सुलभ जान पड़ते हैं, जनता में प्रचलित भी हैं, पर उनका कोई यथार्थ मूल्य नहीं है। फिर कुछ ऐसे भी ग्रन्थ मिलते हैं, जो अपनी साहित्यिक क्लिष्टताओं तथा दार्शनिक विशेषताओं के कारण बड़े दुरूह हैं, केवल विद्वानों के समझने योग्य हैं। परन्तु आनन्द तो दुर्लभ को सुलभ बनाने में है। जैसे यह बिजली का प्रकाश है। उसमें जड़ और मेधावी का भेद नहीं है। साधारण व्यक्ति को प्रकाश चाहिये और बड़े-से-बड़े बुद्धिमान व्यक्ति को भी प्रकाश ही चाहिये। हाँ, इतना अन्तर अवश्य हो सकता है कि एक साधारण व्यक्ति प्रकाश की जरूरत होने पर स्विच दबाता है और प्रकाश हो जाता है। वह बिजली के उत्पादन की प्रक्रिया से परिचित नहीं है, सिद्धान्त से भिज्ञ नहीं है और दूसरा विद्वान् व्यक्ति भले ही सारी प्रक्रिया को जानता हो, लेकिन प्रकाश उपलब्धि में दोनों ही समान हैं।

श्रीराम तथा कथा-गंगा का अवतरण

गोस्वामीजी की दृष्टि में, 'मानस' की जो विशेषता है, वही भगवान राम की भी है। वे भी दुर्लभ से सुलभ बनते हैं; और गोस्वामीजी ने भी इस काव्य को देवभाषा की गंगोत्री से उतारकर, हरिद्वार की समतल भूमि पर प्रतिष्ठापित कर दिया, ताकि जो लोग देवभाषा की कठिन चढ़ाई न पार कर सकें, वे भी इस गंगा का साक्षात्कार कर सकें। इस गंगा के निकट पहुँच सकें। आजकल तो गोस्वामीजी को पिछड़ा या प्रतिगामी भी कहा जाता है। परन्तु गोस्वामीजी के अपने समय में लोग उनको भिन्न दृष्टि से भी देखते थे। जब उन्होंने इस भाषा में रचना की, तो उस काल में उसे बड़ी आलोचना की दृष्टि से देखा गया और कहा गया कि पवित्र देवभाषा से साधारण ग्रामीण भाषा में कथा लिख देना तो देवभाषा का बड़ा अनादर है। परन्तु गोस्वामीजी की क्या दृष्टि थी – हमारे 'भगवान' स्वयं त्रेतायुग में देवता से मनुष्य बन गये और इतने दिन बाद कलियुग में उनका 'चरित्र' भी देवता से मनुष्य बन जाय।

ईश्वर देवता से मनुष्य कैसे बना? हम ईश्वर के अवतार की बात करते हैं। अवतार का अर्थ है – नीचे उतर जाना। संस्कृत भाषा में सीढ़ी के लिये अवतरणिका शब्द का प्रयोग करते हैं। यह अवतार भी अवतरणिका का ही एक रूप है। अगर सीढ़ी लगी हुई है, तो व्यक्ति सीढ़ी के माध्यम से नीचे से ऊपर चढ़ सकता है और ऊपर से नीचे उतर सकता है।

ज्ञानियों ने कहा – "भाई, ईश्वर ऊपर है।" इसे भौतिक भाषा में कहें तो ऊपर किसी लोक में है और वेदान्त की भाषा में कहें तो नाम-रूप से ऊपर है। जीव नीचे उतर आया है, क्योंकि वह नाम-रूप की सीमाओं में घिर गया है। विचारक कहता है कि यदि ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करना है, तो तुम भी नाम और रूप से ऊपर उठो और तब उससे मिलो। यह वेदान्तियों की भाषा है।

परन्तु भक्तों ने इसी को उलट दिया। भक्तों ने भगवान से कहा – "आप अकेले हैं और संसार के करोड़ों व्यक्ति नीचे हैं। अगर ये बिचारे एक-एक करके चढ़ेंगे, तो कितना समय लगेगा। इससे अच्छा जरा आप ही उतरकर के नीचे आ जाइये, तो आप एक साथ सबके लिये सुलभ हो जायेंगे।"

वेदान्ती कहता है कि व्यक्ति को नाम-रूप से ऊपर उठना चाहिये और भक्त कहता है कि भगवान को भी नाम-रूप की सीमा में आना चाहिये। हम कहते हैं – ब्रह्म अनीह अर्थात् इच्छारहित है, अनाम अर्थात् उसका कोई नाम नहीं, अरूप अर्थात् उसका कोई रूप नहीं, अज अर्थात् अजन्मा है –

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानंद पर धामा।। १/१३/४

मनु कहते हैं – मैं जानता हूँ कि आप ऐसे हैं। – फिर क्या चाहते हो भाई? वे उन्हें अनीह, अरूप, अनाम जानते हुए भी भक्ति की चाह रखते हैं। बोले – महाराज! आपको पाने के दो ही उपाय हैं – या तो जीव नाम-रूप से ऊपर उठे, या फिर आप स्वयं ही नाम-रूप को स्वीकार करें।

भगवान का नामकरण

भक्त बड़े चतुर हैं। उन्होंने सोचा कि ब्रह्म तो बदनामी से डरता नहीं। क्योंकि बदनामी से वह डरता है, जिसका नाम होता है। जिसका नाम ही नहीं, वह बदनामी से क्या डरेगा? भक्तों ने कहा – इसे नाम दे दें, तो बदनामी से डरने लगेगा। भक्तों ने यही किया – पूरे काव्य में यही है। ईश्वर को पहले नाम दिये और नये-नये नाम दिये। इन नामों को सुनकर भगवान भी बड़े प्रसन्न हुए और भक्त लोग बाद में थोड़ा-सा धमकाने भी लगे। बोले – याद रखिये यह-यह नाम है!

गोस्वामीजी ने भगवान से कहा – महाराज, मैंने आपके लिये एक बड़ा सुन्दर नाम चुना है। क्या? भगवान बोले – क्या? – जब चुना ही है, तो आपको बता भी देता हूँ; आपका नाम है पतित-पावन। प्रभु ने कहा – नाम तो सुन्दर है। – हाँ, सुन्दर तो है, परन्तु विचार करके देख लीजिये, आपका नाम सुन्दर हो, पर काम सुन्दर न हो, तो उस नाम की सार्थकता कैसे होगी। प्रभु बोले – स्पष्ट रूप से कहो। गोस्वामीजी ने कहा – तो यह बताइये कि आपकी सभा में एक भी पतित है क्या? भरतजी हैं, लक्ष्मणजी हैं, हनुमानजी

हैं – सब एक-से-एक बढ़कर श्रेष्ठ हैं। इनसे तो आप कहीं पतित-पावन नहीं सिद्ध होते। तो आपका एक यह नाम व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। भगवान ने पूछा – क्या करें। गोस्वामीजी बोले – बड़ा सरल उपाय है, मुझे शरण में ले लीजिये। यदि कोई आपसे पूछेगा कि 'पतित-पावन' कैसे हुए? तो मेरी ओर दिखा दीजियेगा कि मैंने तुलसी जैसे पतित को स्वीकार किया, इसलिये पतित-पावन हो गया। तो आपके इस नाम की सार्थकता मुझे शरण में रखे बिना नहीं हो सकती। 'विनय-पत्रिका' में वे कहते हैं –

मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन
दोउ बानक बने।। वि. १६०/१

भक्तों ने प्रभु को अनेक नाम दिये। वेदान्तियों ने कहा – इनका कोई नाम नहीं है। भक्त बोले – फिर तो स्वतंत्रता है, इसे हम चाहे जो नाम दे सकते हैं। इसलिये जब दशरथजी ने गुरु वसिष्ठ से कहा – गुरुदेव, इनका नाम? मुनि बोले – हे राजन्! इनके अनेक अनुपम नाम हैं –

इन्ह के नाम अनेक अनूपा।। १/१९७/४

या तो इनके नाम ही नहीं हैं, या फिर अनन्त नाम हैं। ये जो अनन्त नाम हैं, वे जीव के लिये भी हैं।

भगवान के रूप और गुण

भक्तों ने भगवान से दूसरी बात भी कही। पता चला कि भगवान का कोई रूप नहीं है। रूप नहीं है, तो कभी समझ में आयेगा ही नहीं। रूप हो, तो आप किसी को समझ लीजिये। भक्तों ने गोस्वामीजी के माध्यम से एक बड़ी मीठी और सार्थक बात कही।

एक बात आपने सुनी होगी कि जीव त्रिगुण – तीन गुणों के बन्धन में है। गुण संस्कृत में रस्सी को कहते हैं। राम-चरित-मानस में इसका प्रयोग हुआ है – भगवान परशुरामजी से कहते हैं – मेरे धनुष में एक ही गुण या डोरी है –

देव एक गुण धनुष हमारे।

तो गुण का दूसरा अर्थ रस्सी भी है। आपने देखा होगा कि रस्सी बनानेवाले जब अपनी रस्सी को मजबूत करना चाहते हैं, तो उसे तिहरा कर देते हैं। जीव भी तिहरी रस्सी से बँधा हुआ है – सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। वह इनसे छूटे कैसे? ज्ञानियों ने कहा – रस्सी को तोड़ दो। भक्तों ने कहा – जरा-सा सिमटकर निकल जाओ। जीव या तो 'सोऽहम्-अस्मि' के द्वारा माया के बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म से एकत्व को प्राप्त हो जाय, तो फिर माया भला क्या बाँधेगी! नहीं, तो 'दासोऽहम्' के रूप में थोड़ा-सा सिमट जायँ, तो माया का बन्धन शिथिल हो जायगा।

हनुमानजी दोनों का प्रयोग जानते थे। इसलिये मेघनाद ने जब नागपाश में बाँध दिया, तो जान-बूझकर बँध गये। कोई स्वयं तो बँधना नहीं चाहता, परन्तु हनुमानजी बँध क्यों गये? इसलिये कि जो छूटने की कला जानता है, उसे बँधने में क्या भय लग सकता है। जब रावण ने हनुमानजी की पूँछ में आग लगवा दी, तो हनुमानजी ने सोचा – ज्ञान-मार्ग से मुक्त होऊँ या भक्तिमार्ग से? उन्होंने पहले भक्तिमार्ग अपनाया और उसके बाद ज्ञानमार्ग। गोस्वामीजी ने बड़ी सार्थक बात लिखी – हनुमानजी ने तुरन्त अपने आप को थोड़ा छोटा बना लिया, तो मेघनाद का नागपाश शिथिल होकर गिर पड़ा। फिर लंका को कैसे जलाया? पूँछ में अग्नि को जलते हुए देख तत्काल बहुत छोटे हो गए। बन्धन से निकलकर सोने की अटारियों पर जा चढ़े। उन्हें देख राक्षसों की स्त्रियाँ भयभीत हो गईं। ईश्वर की प्रेरणा से उनचासों पवन चलने लगे। हनुमानजी अट्टहास कर गरजे और बढ़कर आकाश से जा लगे –

पावक जरत देखि हनुमंता।
भयउ परम लघुरूप तुरंता।।
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारीं।
भईं सभीत निसाचर नारीं।। ५/२५/७-१०
हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास।। ५/२५

पहले भक्तिमार्ग से छोटे बनकर बन्धन से मुक्त हो गये और उसके बाद ज्ञानमार्ग से बड़े बनकर लंका को जला दिया। तो बन्धन से मुक्त होने के लिए दो मार्ग हैं। बड़े हो जाओ या फिर छोटे हो जाओ। प्रभु ने गोस्वामीजी से पूछा – तुम किस मार्ग से मुक्त होना चाहोगे – 'सोऽहम्-अस्मि' की अखण्ड वृत्ति द्वारा, या फिर 'दासोऽहम्' के भाव द्वारा? इस पर गोस्वामीजी एक बड़ी मीठी बात कहते हैं।

बोले – महाराज, दोनों अपने वश में नहीं हैं। – क्यों? बोले – बड़े होने में तो एक डर है कि यदि इतने बड़े हों कि रस्सी टूट जाय, तब तो ठीक है; लेकिन बड़े होते-होते यदि बीच में अटक गये, तो रस्सी और भी कस जायगी। यही होता भी है। ज्ञानमार्ग जरा कठिन है। यदि व्यक्ति अहंकार से पूरी तरह से मुक्त होकर, समष्टि से एकाकार हो सके, तब तो वह त्रिगुण से परे हुआ; और नहीं तो अनेकों प्रकार से संसृति (जन्म-मरण आदि) के क्लेश पाता है –

तब फिरि जीव बिबिधि बिधि
पावइ संसृति क्लेस।। ११८ (क)

भगवान ने पूछा – तो फिर तुम छूटना नहीं चाहते क्या? – छूटना तो चाहते हैं, पर तीसरे उपाय से। पूछा – अब यह तीसरा कौन-सा उपाय है? बोले – महाराज, यदि बाँधनेवाला स्वयं ही छोड़ दे, तो न बढ़ना पड़े और न घटना पड़े –

है श्रुति-बिदित उपाय सकल
सुर, केहि केहि दास निहोरै।

तुलसिदास यह जीव मोह
रजु, जेहि बाँध्यो सोई छोरै ।।

रस्सी आपकी बनायी हुई है, आप ही ने जीव को बाँधा है। तो महाराज, आप स्वयं ही जरा खोल दीजिये न –

जिन बांधे प्रभु असुर नाग मुनि,
प्रबल करम की डोरी ।।

मुस्कुराये। बोले – हाँ, तीसरा मार्ग है तो सही। तो फिर लाओ, रस्सी को काटे देते हैं। बोले – महाराज ! रस्सी हम लोग नहीं काटा करते। गोस्वामीजी के शब्द बड़े अनोखे हैं। ज्ञानी भवबन्धन को काटता है, भक्त नहीं काटता –

भव बंधन काटहि नर ज्ञानी ।।

– काटने में हानि क्या है? गोस्वामीजी बोले – "महाराज, काटता तो अनाड़ी है। जो गाँठ को नहीं खोल पाता, वह जल्दी में काट देता है। परन्तु इस बन्धन को तो आप स्वयं ही बाँधनेवाले हैं और आप ही काटें – क्या यह शोभा देता है? आप तो इसे खोल दीजिये।" भगवान ने कहा – चाहे काटें या खोलें, तुम तो मुक्त हो ही जावोगे। बोले – "प्रभो, मैं तो मुक्त हो जाऊँगा, लेकिन काट देने से रस्सी तो बेकार हो जायगी। इसलिये खोल दीजिये, काटिये मत, जिससे मैं मुक्त भी हो जाऊँ और रस्सी भी काम की रह जाय। जिस रस्सी से वस्तु बँधकर आयी हो, उस रस्सी को खोल लीजिये और अन्यत्र प्रयोग कर लीजिये।"

भगवान ने रस्सी खोल दी और गोस्वामीजी से पूछा – अब तुम इस रस्सी से क्या करोगे? बोले – "महाराज, जिस रस्सी से आज तक आपने हम लोगों को बाँधा था, उसी से अब हम आपको बाँधकर देखेंगे कि आप उससे बँधकर कैसे लगते हैं। जरा आप भी तो बँधिये। आप भी हम लोगों की तरह मनुष्य बनकर आँसू बहाइये, दुख और पीड़ा का अनुभव कीजिये। हमारी ही तरह आप भी जीव की समस्याओं से निपटिये। हम चाहते हैं कि आप बँधकर हमारे बीच आइये।

भक्त और ज्ञानी में यही भेद है। ज्ञानी कहता है – ऊपर उठो। परन्तु भक्त कहता है – नहीं, ईश्वर को ही नीचे उतारो।

हम गंगा को ऊपर से नीचे उतारने में विश्वास करते हैं। पहले गंगा ब्रह्माजी के कमण्डलु में थीं और जब उसमें से उतरीं, तो भगवान शिव की जटा में आयीं। वहाँ से उतरीं, तो हरिद्वार में आयी। परन्तु इतने से ही सन्तोष नहीं है। कहा – और नीचे, और नीचे, और नीचे। जब तक गंगाजी जाकर समुद्र में विलीन न हो, तब तक हमें सन्तोष नहीं होगा। वैसे ही भक्तों ने प्रभु से कहा – नीचे उतरिये। अयोध्या में आये। और नीचे – चित्रकूट में चले गये। और नीचे – दण्डकारण्य में चले गये। बोले – महाराज, जब तक लंका तक नहीं पहुँचेंगे, तब तक पूरा अवतार नहीं हुआ। अयोध्या तो पावन भूमि है। प्रभु वहाँ से लंका तक की यात्रा करते हैं।

श्रीराम की विविध झाँकियाँ

'मानस' में गोस्वामीजी भगवान की कई मधुर झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। कहीं वे कौशल्या की, तो कभी वे महाराज दशरथ की गोदी में हैं। बड़ी मधुर झाँकी है। (एक सखी दूसरी से कहती है) – मैं सबेरे महाराज दशरथ के द्वार पर गयी थी। तभी महाराज पुत्र को गोद में लिये हुए बाहर आये। उस शोकनाशक शिशु को देखकर मैं तो ठगी-सी रह गयी। धिक्कार है उन्हें, जो उसे देखकर ठगे-से नहीं रह जाते। उसके अंजनरहित नेत्र खंजन पक्षी के बच्चों के जैसे थे। हे सखि, उसका मुख ऐसा दीख रहा था, मानो चन्द्रमा में से समान रूपवाले दो नीले कमल खिले हुए हों –

अवधेस के द्वारें सकारे गई,
सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को,
ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक से ।।
तुलसी मन-रंजन रंजित-अंजन
नैन सुखंजन जातक-से ।
सजनी ससि में समसील उभै
नवनील सरोरुह-से बिकसे ।। (कविता. १)

प्रभु जब जनकपुर में पधारे, तब की झाँकी का तो कहना ही क्या ! मंगल परिणय के समय – किशोरीजी बार-बार उनको देखतीं और सकुचा जाती हैं, पर वे नहीं सकुचाते। उनके प्रेम के प्यासे नेत्र सुन्दर मछलियों की छबि को हर रहे हैं –

पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मनु सकुचै न ।
हरत मनोहर मीन छबि प्रेम पिआसे नैन ।। १/३२६

चित्रकूट में चले तो – आगे श्रीराम हैं, पीछे लक्ष्मणजी – तपस्वियों के वेष में दोनों बड़ी शोभा पा रहे हैं। दोनों के बीच में सीताजी वैसे ही सुशोभित हो रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया ! फिर ऐसा लगता है मानो वसन्त ऋतु और कामदेव के बीच में रति शोभित हो रही हो –

आगें रामु लखनु बने पाछें ।
तापस बेष बिराजत काछें ।।
उभय बीच सिय सोहति कैसें ।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसें ।।
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई ।
जनु मधु मदन मध्य रति लसई ।। २/१२३/१-३

अन्य झाँकियाँ भी बड़ी मनोरम हैं। परन्तु एक झाँकी के प्रति उनका कुछ अधिक पक्षपात दीख पड़ता है। बड़ी विचित्र झाँकी है यह ! प्रभु लंका में सुबेल शैल – पत्थर पर लेटे हुए हैं। प्रभु का सिर सुग्रीव की गोद में है। भगवान के बायें और दायें उनके धनुष तथा तरकश रखे हुए हैं। दोनों हाथों से वे बाणों को सुधार रहे हैं। विभीषण उनके कान के पास

बैठे सलाह कर रहे हैं। अंगद प्रभु के दाहिने तथा हनुमान उनके बाँयें चरण को धारण किये बैठे हैं –

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा ।
बाम दहिन दिसि चाप निषंगा ।
दुहुँ कर कमल सुधारत बाना ।
कह लंकेस मंत्र लगि काना ।।
बड़भागी अंगद हनुमाना ।
चरन कमल चापत बिधि नाना ।। ६/११/५-७

इस झाँकी का वर्णन करने के बाद गोस्वामीजी लिखते हैं – कृपा और गुण के धाम श्रीराम इस तरह आसीन हैं और धन्य हैं वे लोग, जो सदा इसके ध्यान में डूबे रहते हैं –

एहि बिधि कृपा रूप गुन धाम रामु आसीन ।
धन्य ते नर एहिं ध्यान जे रहत सदा लयलीन।। ६/११ क

प्रभु ने स्वयं ही गोस्वामीजी से पूछ दिया – इस झाँकी में ऐसा क्या दिखा कि तुम इसे इतना महत्त्व देते हो?

गोस्वामीजी बोले – प्रभो, यह ठीक है कि आप अवतार लेकर आये, पर अयोध्या में दशरथ जैसे महापुरुष ने निमंत्रण दिया, तो आये। जनकपुर में गये, तो जनक जैसे महापुरुष-ज्ञानी और निष्काम कर्मयोगी के यहाँ आप गये। जनकपुर तो धन्य है जहाँ सीताजी प्रकट हुईं। अनसूयाजी के लिये आप चित्रकूट पधारे। सर्वत्र आपको निमंत्रण मिला, लंका से नहीं मिला। सर्वत्र यही कहते थे कि आइये, पर लंकापति कहता था – बिलकुल मत आइये। तो आप वहाँ बलात् घुसकर बैठ गये। गोस्वामीजी बोले – मेरा हृदय भी लंका जैसा है, जहाँ से यदि आप निमंत्रण की प्रतीक्षा करेंगे, तो इसमें कभी नहीं आ सकेंगे। लंका के समान ही तुलसीदास के हृदय में भी बलात् घुसकर बैठ जाइये। प्रभो, आपको दशरथ की गोद में देखकर डर लगता है कि हम दशरथ कहाँ हैं, जो आपको गोद में ले सकें! महाराज जनक के मण्डप में देखकर निराशा होती है कि हमारी जनक जैसी निष्काम कर्मयोग की प्रवृति कहाँ है ! अत्रि और अनुसूया की ओर देखकर उनसे भी मैं अपनी तुलना नहीं कर सकता। परन्तु जब मैं आपको बन्दरों से घिरा हुआ देखता हूँ, तो लगता है कि हाँ, ये हमारे काम के हैं, ये तो बन्दरों के बीच भी रह सकते हैं।

किसी ने गोस्वामीजी से कहा – आप इतने बड़े महापुरुष हैं; लगता है आपके माता-पिता को ज्योतिष का ठीक ज्ञान नहीं था, क्योंकि उन्होंने आपको अभागा समझकर छोड़ दिया था। गोस्वामीजी बोले – "उन्हें बिलकुल ठीक ज्ञान था, क्योंकि ब्रह्माजी जब मेरा भाग्य लिखने चले, तो संकट में पड़ गये। उन्होंने सोचा – इसके मस्तक पर इसके पुण्यों का फल अंकित कर दें। उन्होंने हमारा सारा जीवन देख डाला, पर पुण्य एक भी नहीं था। तो क्या लिखें? फिर उन्होंने सोचा कि इसके पापों का फल ही लिखें। वे हमारे पूर्वजन्मों के पापों का लेखा-जोखा देखने लगे, तो खाता इतना लम्बा-चौड़ा था कि उनका फल पूरे सिर में समायेगा ही नहीं। उन्होंने सोचा पुण्य है नहीं, पाप का फल समायेगा नहीं, तो फिर इसका सिर कोरा छोड़ दे। अब उस कोरे सिर को देख प्रभु को नया भाग्य लिखने का मन हो गया, तो बेचारा ब्रह्मा क्या करे ! वे कवितावली रामायण (७/५६) में कहते हैं – लोग कहते हैं बड़ा अभागा है और मैं भी कहता हूँ कि ब्रह्माजी ने मेरे भाग्य में कुछ नहीं लिखा –

पातक पीन कुदारिद दीन मलीन धरैं कथरी करवा है ।
लोग कहैं विधि हूँ न लिख्यों सपनेहु नहीं अपने बरवा है।।

तो आज क्या हो गया? बोले – अब मैं राम के दास के रूप में, उनके किंकर के रूप में संसार में प्रसिद्ध हो रहा हूँ। यह उन्हीं की विशेषता है, जो बानर के चरवाहे हैं –

राम को किंकर सो तुलसी, समुझे ही बनै कहिबे न रवा है।
ऐसे को एसो भयो तुलसी न भजे बिनु बानर के चरवाहै।।

गाय में कम-से-कम यह उदारता तो है कि वह दूध देती है, पर बन्दर को चराइयेगा तो क्या मिलेगा? बोले – इतने उदार हैं कि बन्दरों को चराते हैं। बन्दरों से घिरे रहते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – प्रभो, जब आप बन्दरों से घिरे दिखायी देते हैं, तो ऐसा लगता है कि चंचल-से-चंचल व्यक्ति भी आपको पा सकता है। हीन-से-हीन मनोवृत्ति का व्यक्ति भी आपको पा सकता है। आप लंका जैसे हृदय में भी प्रविष्ट होकर उस पर अधिकार कर सकते हैं। भक्त प्रभु से कहता है – नीचे उतरिये; और भगवान नीचे उतर आयें, परन्तु उसके चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थ दुर्लभ बने रहें, अत्यन्त क्लिष्ट बने रहें, सिर्फ संस्कृत में ही रह जायँ, असंस्कृत लोगों को न मिलें, तो बात कैसे बनेगी ! ❖ **(क्रमशः)** ❖
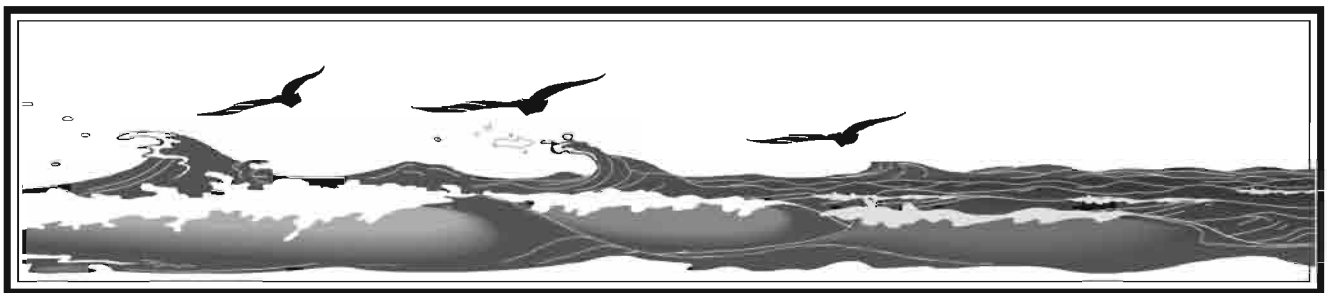
वहम का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मेरे एक परिचित हैं। वे जब अपने कमरे में ताला लगाकर बाहर निकलते हैं, तो ३-४ बार लौटकर ताले के पास आते हैं, उसे झटका देकर देखते हैं कि वह खुला तो नहीं है। फिर भी वे आश्वस्त हो नहीं पाते। उन्हें आशंका लगी ही रहती है कि कहीं उन्होंने ताले को खुला ही तो नहीं छोड़ दिया है। जब घर के अन्दर होते हैं, तो कई बार जाकर देख आते हैं कि उन्होंने कुण्डी ठीक से चढ़ा दी है तो। एक दूसरे सज्जन हैं, जो चिट्ठी के डिब्बे में चिट्ठी डालकर ३-४ बार झुककर देखते हैं कि उन्होंने चिट्ठी सही सही डाल दी है तो। फिर कुछ दूर आकर पुन: लौटकर डिब्बे के पास जाते हैं - यह देखने के लिए कि चिट्ठी डिब्बे के बाहर तो नहीं गिर पड़ी। एक तीसरे हैं जो कहीं बाहर जाते समय बार बार अपना पर्स खोलकर देखते हैं कि उन्होंने अपनी टिकट रख ली है तो। ये तीनों व्यक्ति वहम के शिकार हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि यदि पैर के नीचे मल आ जाय, तो बारम्बार पैर को धोकर भी उन्हें समाधान नहीं होता, उन्हें लगता है कि पैर अभी भी गन्दा है।

मेरा एक सहपाठी था। एक दिन परीक्षा देने के लिए जाते समय पता नहीं कैसे उसकी पेन की कैप निकल गयी और उसकी जेब पर पेन की निब ने स्याही का बड़ा-सा धब्बा लगा दिया। पहले तो उसे बड़ा दु:ख हुआ कि उसकी कमीज खराब हो गयी, पर परचा देकर बाहर निकलने पर उसे मैंने बड़ा खुश देखा। उसने बताया कि उसका परचा बढ़िया बना है। अब उसे कैप का खुलना खराब नहीं लग रहा था, उल्टे वह कह रहा था कि कैप का खुलना उसके लिए शुभ साबित हुआ। इसके बाद से उसकी हर दिन यह कोशिश होती कि परीक्षा के लिए जाते समय किसी प्रकार उसकी पेन की कैप खुल जाय। वह पेन की कैप को ढीला ही रखता और रास्ते में न खुलने पर वह उँगली से झटका देकर उसे खोलने की चेष्टा करता।

ये सारे उदाहरण वहम के हैं। यह मनोविज्ञान की दृष्टि से एक भयानक मानसिक रोग है। हममें से हर व्यक्ति इसका न्यूनाधिक मात्रा में शिकार है। एक सज्जन हैं, जो रोज ११ बार हनुमान-चालीसा का पाठ करते हैं। यदि किसी दिन पाठ की संख्या में किसी कारणवश कमी हो गयी, तो उन्हें लगता है कि उन पर विपत्ति आ जायगी। कोई यदि प्रतिदिन के नियम के अनुसार मन्दिर नहीं जा सका, तो सारे दिन किसी अनिष्ट की आशंका बनी रहती है।

फिर लोगों को संख्या को लेकर वहम हुआ करता है। यदि किसी परीक्षार्थी को ऐसा रोल नम्बर मिला, जिसके अंकों को योग विषम हो, तो उसे फेल होने का डर सताने लगता है। एक अंग्रेज १३ की संख्या से घबराता है।

वहम के ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसके जाने कितने रंग होते हैं और कितने रूप। पर कोई भी वहम ऐसा नहीं है, जो दूर न हो सके। वहम का कारण है मन की कमजोरी, इसलिए उसको दूर करने का उपाय है मन को बली और सशक्त बनाना। मन को थोड़ा-सा दृढ़ बनाकर वहम से छुटकारा पाया जा सकता है। मन की इस प्रारम्भिक दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए किसी ऐसे मित्र का साथ उपयोगी होता है, जिसका मन बली है। जैसे, जिसे ताला के बन्द न होने का वहम है, वह एक बार ताला को बन्द कर देने पर उसके पास जाए ही नहीं। मित्र उसे न जाने दे। डिब्बे में चिट्ठी डालने वाला एक बार चिट्ठी डालकर उधर देखे ही न। जिस संख्या का किसी को वहम है, वह उसी संख्या का उपयोग जान-बूझकर बार बार करे। तात्पर्य यह है कि जिसे जिस बात का वहम है, उसका ठीक उल्टा वह जान-बूझकर करे। मात्र कुछ ही महीने का ऐसा अभ्यास उसे इस भयानक मनोरोग से छुटकारा दिला देगा। यह अभ्यास उसकी मानसिक स्वस्थता को लौटा लाएगा और मन को दृढ़ता प्रदान करेगा। वहम एक साध्य रोग है। आवश्यकता है एक स्वस्थ और सबल मन वाले मित्र की, जो प्रारम्भिक दिनों में रोगी के साथ रहकर उसकी सहायता कर सके।
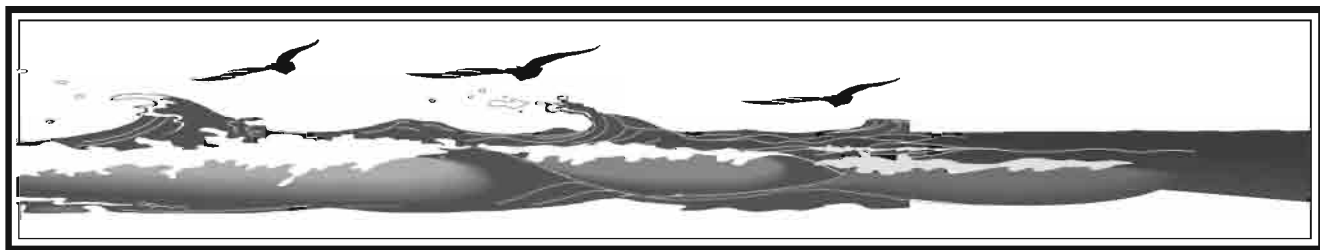
आत्माराम के संस्मरण (२९)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

काठियावाड़ – भोजापुरा (१९२९)

सुबह उठकर फिर चल दिये। चारणों के एक गाँव में पहुँचते करीब १०-११ बज गये। गाँव छोटा-सा था, नदी के किनारे बसा था। नाम – भोजापुरा। नदी के उस पार भी चारणों का ही गाँव था – नेजापुरा। गाँव के पटेल खाकी बाबा से परिचित थे। वृद्ध चारण-दम्पति सौम्य दर्शन और बड़े अच्छे लोग थे। दो बजे भिक्षा के लिये बुलाया। खाने को गये। खाकी बाबा ने जाते ही अपनी जटा पर आघात करते हुए कहा, "उसका सर्वनाश हो जायेगा, जिसने तुम लोगों का सर्वनाश किया है!" तीन बार वैसा ही किया। बूढ़ी थोड़ा रोने लगी। रात को भैंस चराते समय उनके एकमात्र जवान पुत्र की किसी अन्य गाँव के व्यक्ति ने हत्या कर दी थी। ये लोग भैंसों को शाम के समय एक बार दूह लेने के बाद रात में फिर मैदानों-जंगलों में चराने ले जाते हैं। भोर में उनके लौटने पर एक बार फिर दूध दूहते हैं। सुबह फिर चराने ले जाते हैं और शाम को लौटते हैं। साथ में रोटला बाँधकर ले जाते हैं, भूख लगने पर वही खाते हैं। शाम को दूध पीकर चले जाते हैं।

खाने के लिये दूध और रोटला दिया। दोनों खा रहे थे। तभी एक प्रौढ़ महिला आयी। उसने आते ही रोना और अपने सिर के बाल नोंचना शुरू कर दिया। वृद्धा ने जल्दी से एक जलती हुई कण्डी के ऊपर थोड़ा-सा घी डाला और ले जाकर उसके नाक के पास लगा दिया। कहने लगी, "शान्त हो, शान्त हो।" वह चुप हो गयी। हे भगवान! वह पाँच मिनट चुप रही और उसके बाद फिर वैसे ही अपने सिर के बार नोंचने लगी। वृद्धा ने फिर धुँआ दिया। कुछ मिनट बाद वह फिर वैसे ही करने लगी। वृद्धा हँसते हुए बोली, "तेरे बड़े सौभाग्य हैं, जो तुझे बार-बार भावावेश आता है। शान्त हो जा!" फिर धुँआ दिखाया।

चारण लोग चण्डी देवी के भक्त होते हैं। उनकी महिलाओं पर इसी प्रकार देवी का आवेश आता रहता है। किसी-किसी के घर में 'कंकुर-पगला' – सिन्दूर के छोटे-छोटे पदचिह्न भी दीखते हैं। कहते हैं – देवी घूम-फिरकर गयी हैं, उसी का चिह्न है। जो महिलाएँ यह सब देख पाती हैं, उनका समाज में खूब मान होता है। महिलाएँ वृद्धाओं से यह सब सीखती हैं। लगता है कि यह एक तरह की विशेष विद्या है।

उसी गाँव के सामने एक छोटी पहाड़ी नदी के बीच एक ऊँचे स्थान पर एक विशाल आम का पेड़ है। ऊँचा इतना कि उसके ऊपरी छोर को देखने के लिये सिर को टेढ़ा करना पड़ता था; और उसका तना इतना मोटा था कि चार-पाँच लोग मिलकर भी उसे पूरा घेर नहीं सकते। नीचे डालें नहीं हैं। सीधा तना और चालीस हाथ के ऊपर डालें तथा पत्तियाँ। पेड़ की छाल हरे रंग की और नरम है, मानो गुठली से ही नया वृक्ष निकला हो। उसमें हर साल बहुत-से छोटे-छोटे खूब मीठे आम फलते हैं। पेड़ पर कोई चढ़ नहीं सकता। पकने के बाद जो आम गिरते हैं, लोग उसी को खाते हैं। यहाँ के सभी लोगों का विश्वास है कि इस वृक्ष पर ग्राम-देवता का वास है, इसीलिये सम्मान करते हैं। सचमुच ही वह वृक्ष एक आश्चर्य की वस्तु है।

इसी गाँव में पत्थरों से बना हुआ पक्का देव-मण्डप है। रात को उसी में निवास हुआ। रात में वृद्ध चारण अन्य अनेक लोगों को साथ लेकर आया और खाकी के साथ बैठकर अपने पुत्र की हत्या के विषय में बातें करने लगा। संन्यासी राजकोट में रहता है, यह सुनकर बोला, "अहा, हमारे ठाकुर साहब देवता आदमी थे। चले गये। हम लोग मानो अनाथ हो गये हैं।" संन्यासी ने पूछा – "वे क्या तुम लोगों के ठाकुर साहब (राजा) थे? गाँव में तो सुना कि यह काठी दरबार का है।"

वृद्ध चारण – "हाँ, यह गाँव काठी दरबार का है, पर वे इतने देवता-तुल्य व्यक्ति थे कि हम लोग उन्हीं को अपना राजा मानते हैं। एक बार जब प्लेग का प्रकोप हुआ था, तब उन्होंने ही हम लोगों को बचाया था। पुलिस राजकोट शहर में घुसने नहीं देती थी। प्लेग के कारण शहर करीब-करीब खाली हो गया था। राजकोट ही हम लोगों की मण्डी है, इसलिये हम लोगों को अपना घी, अनाज आदि बेचने के लिये वहीं जाना पड़ता है। ठाकुर साहब श्री लाखाजी राज ने हुकुम दे रखा था कि हम लोग जो कुछ लेकर जायें, वह सब खरीद लिया जाय। शहर के बाहर नाके पर उनके लोग हाजिर रहते। वे लोग सब खरीदकर नगद भुगतान करते।"

उसने ठाकुर साहब लाखाजी राज की उदारता के विषय में और भी बहुत-कुछ बताया। सुनकर भला किसको उनके

प्रति श्रद्धा नहीं होगी। एक वृद्धा को प्लेग हो गया था। वह बड़ी गरीब थी और उसे देखनेवाला कोई भी नहीं था। ठाकुर साहब गाड़ी लेकर घर-घर जाते और जो लोग बीमारी के कारण बाहर नहीं जा पाते थे, निर्धनता के कारण खाना नहीं पाते थे, वस्त्र आदि के अभाव में कष्ट पा रहे होते – उन सब की सहायता करते। वृद्धा के विषय में सूचना मिलने पर वे उसके यहाँ गये। देखा – पीड़ा से छटपटा रही है और मक्खियों से बहुत परेशान है। उन्होंने तत्काल मच्छरदानी लाकर टाँगने का आदेश दिया। पर कपड़ा बाजार बन्द था। अब क्या किया जाय? बोले – "जाओ, मेरी मच्छरदानी ले आओ।" सभी अवाक् रह गये। वे मच्छरदानी लग जाने के बाद ही लौटे। वृद्धा की तो दो दिन बाद ही मृत्यु हो गयी।

"देवता आदमी थे, देवता! नहीं तो राजा होकर भी अपनी ओर ध्यान न देकर लोगों के लिये इतना सब करते! अंग्रेज सरकार के कहने पर भी वे (प्लेग के भय से) राजकोट छोड़कर नहीं गये। यह क्या कम बात है! और हम लोग उनके क्या लगते हैं? हम तो दूसरे राज्य की प्रजा हैं। हमारे यहाँ के गरीबों के दु:ख-कष्ट के बारे में चिन्तित होते थे। हम लोग जो कुछ भी ले जाते, वह सब-का-सब उचित मूल्य देकर खरीद लेते।" इतना कहकर वृद्ध चारण ने लम्बी सांस छोड़ी। राजकोट के ठाकुर साहब श्री लाखाजी राज हाल ही में दिवंगत हुए थे।

अगले दिन बड़े सबेरे रवाना होकर काफी देर बाद **चोटिला** पहुँचे। यह चारों ओर पहाड़ों-जंगलों से घिरा हुआ सुन्दर काठी लोगों का गाँव – बल्कि छोटा-सा शहर ही है। उसके बाद **थान** गये। स्टेशन के पास शिव-मन्दिर है, दरबार के अनेक समाधि-मन्दिर हैं और बाँध से बना हुआ एक तालाब है। एक घने वृक्ष के नीचे आश्रय लिया। खाकी बाबा किसी काठी दरबार के घर सीधा आदि सामान लाने गये। लाकर दाल-रोटी बनाया, खाते-खाते संध्या हो गयी।

रात को दो-तीन सत्संगी आ जुटे। सत्संग समाप्त हो जाने के बाद उन लोगों ने अगले दिन के लिये निमंत्रण दिया। अगले दिन डेढ़ बजे भोजन प्राप्त हुआ। यही उन लोगों के खाने का समय है। भोजन के बाद थोड़ा विश्राम कर लेने के उपरान्त संन्यासी बाँकानेर के मार्ग से राजकोट की ओर चल पड़ा।

बाँकानेर में एक रात बिताने के बाद **गौरीदड़** पहुँचा। राजकोट वहाँ से केवल ६-७ मील की दूरी पर था। गौरीदड़ राजकोट के ही अधीन एक छोटा-सा राज्य है। आय केवल ढाई-तीन लाख रुपये हैं। परन्तु स्वतंत्र है – अंग्रेज लोगों ने सभी अधिकार छोड़ दिये हैं, केवल फाँसी देने का अधिकार ले लिया है। मैजिस्ट्रियल पावर है और स्वतंत्रता की रक्षा के नाम पर कुछ वार्षिक रुपये भी लेते हैं। इसीलिये पुलिस के कुल बारह सिपाहियों से ही राजा का काम चल जाता है। राजा के कारभारी (दीवान या व्यवस्थापक) श्री पंड्या संन्यासी के परिचित थे। उन्होंने संन्यासी से अनेकों बार गौरीदड़ आने के लिये कहा था। उनके भाई श्री हरिशंकर पंड्या संन्यासी तथा रामकृष्ण आश्रम के परम हितैषी थे। राजा के बगीचे में रहट चल रहा था। इसमें खेतों की सिंचाई हेतु चमड़े की बड़ी-बड़ी थैलियों के द्वारा बैलों या भैंसों की सहायता से कुएँ से पानी निकाला जाता है। कुएँ से सिंचाई के लिये यह बड़ा उपयोगी है। थैले भैंस के चमड़ों से बनते हैं। उनमें एक बार में ही काफी पानी उठता है। उन्हें खींचने में बैलों के जोड़े को कष्ट होता है। पंजाब तथा उत्तरप्रदेश के अधिकांश स्थानों में इस अरट या रेंठ (अंग्रेजी में ग्रीसियन ह्वील) को चलाकर ही कुएँ या तालाब से पानी उठाया जाता है। यह बड़ी अच्छी चीज है। इस चक्के को एक बैल भी चला सकता है, मनुष्य भी चला लेता है। कुएँ की गहराई के अनुसार ४०-५० तक छोटी-छोटी बाल्टियाँ या मिट्टी के बरतनों को माले के समान बाँधकर चक्के के द्वारा (तेल निकालने की घानी के समान) घुमाते हैं। सिंचाई बड़ी सस्ती पड़ती है।

संन्यासी ने जाकर उसी के गरम-गरम पानी में स्नान किया और तरो-ताजा होने के बाद बैठा-बैठा सोच रहा था – कारभारी पंड्या को किस प्रकार सन्देश भेजा जाय? खाकी ने कहा, "वह देखिये, स्कूल का मास्टर आ रहा है।" अच्छा ही हुआ। संन्यासी ने मास्टर से कहा, "दया करके गुजराती भाषा में एक खबर लिख दीजिये और कारभारी साहब के पास पहुँचा दीजिये – 'अस्त्र-सज्जित फौज लेकर आ जाइये, मैं राजा साहब के बाग में इन्तजार कर रहा हूँ।' " मास्टर तो अवाक् रह गये! यह कैसी बात! संन्यासी ने कहा, "आप जरा भी चिन्ता मत कीजिये। आपका केवल इतना ही काम है – इस सन्देश को पहुँचाना।"

आधे घण्टे के बाद ५-७ लठैतों को साथ लिये कारभारी साहब उपस्थित हुए। संन्यासी को देखते ही हँस पड़े। बोले – "यह क्या किया आपने! ऐसी भी क्या हँसी की जाती है! मैं तो सोच-सोचकर परेशान हो गया कि कौन हो सकता है! चलिये। अब घर चलिये।"

आनन्दपूर्वक अपने घर ले गये, वहाँ ऐसी अवस्था थी कि बैठने की कोई व्यवस्था न थी। चहारदीवारी के अन्दर के स्थित पेड़ के चबूतरे को तत्काल गोबर-पानी से लिपवाकर आसन जमाया गया। कारभारी दम्पति बड़े लज्जित हुए। भोजन आदि के बाद बैठकर हल्की-फुल्की बातें हो रही थीं, तभी रानी-महल से कारभारी के लिये बुलावा आया। जाकर ही तत्काल लौट आये और बोले – "रानी साहबा कह रही हैं कि उनके राजमहल में भूतों का उपद्रव है। वे लोग उसमें रह नहीं पा रहे हैं। इसीलिये अतिथि-निवास में ठहरे हुए हैं।

* छोटे राज्य के प्रबन्धक को कारभारी कहते हैं।

आप यदि आकर भूत को भगा दें, तो बड़ी कृपा होगी।''

राजा भी परिचित थे और संन्यासी को विनोद करने की इच्छा हुई। उसने खबर भेजा, ''अच्छी बात है, जाकर रानी साहिबा से कहिये कि इस शर्त पर भूत को भगाने की व्यवस्था की जा सकती है – (१) तीन साधुओं के रहने-खाने का प्रबन्ध किया जाय, (२) रसोइया ब्राह्मण तथा नौकर भी साथ रहेगा, (३) भूत को भगाने में कितना समय लगेगा यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता, ५-१० वर्ष तक लग सकते हैं, (४) भूत के भाग जाने पर उस राजभवन में सेवा-केन्द्र की स्थापना करनी होगी।''

सुनकर कारभारी के हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गये। पूछा, ''ऐसी बात क्या कही जा सकती है?'' संन्यासी ने कहा, ''आपका काम है जाकर बताना। मेरा कहा उचित है या अनुचित – आप इसका विचार क्यों करते हैं!'' रानी साहबा ने सब सुनकर कहा, ''बाप रे, भूत पर तो कोई खर्च नहीं है, इसलिये उस भूत को भगाने की कोई जरूरत नहीं।''

संध्या के समय वहाँ से रवाना होकर रात के समय संन्यासी राजकोट पहुँचा। इस प्रकार १९२९ ई. में उसका काठियावाड़ प्रदेश के कुछ अंशों का भ्रमण पूरा हुआ।

जामनगर के बारोट केसर सिंह

१९२९ ई. में संन्यासी का बारोट केसर सिंह से परिचय हुआ। जाति के चारण और कवि थे। ये महाराजा रणजीत सिंहजी की सभा के चारण-कवि थे। इनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। वे वेदान्त-रसिक थे और हर रोज शाम को वेदान्त-चर्चा करने हेतु संन्यासी के पास आते। चर्चा के बाद दोनों एक साथ टहलने के लिये जाते।

एक दिन उन्होंने पूछा कि संन्यासी ने चन्द वरदाई कवि का महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' देखा है या नहीं। संन्यासी का 'नहीं' में उत्तर सुनकर बोले कि वे हर रोज आकर १०-१५ मिनट वह काव्य सुनायेंगे। परन्तु अगले दिन उनके पुस्तक न लाने पर संन्यासी ने कहा – ''पुस्तक तो आप लाये ही नहीं!'' वे बोले – प्रारम्भ का भाग उन्हें कण्ठस्थ है और फिर पुस्तक भी उनके पास नहीं है। भूमिका बाँधने के बाद वे बोलने लगे और उसकी व्याख्या भी करते रहे। अगले दिन आकर उन्होंने पिछले दिन की काव्यबद्ध पंक्तियों की आवृत्ति करने के बाद परवर्ती अंशों का क्रमबद्ध विवरण सुनाने लगे।

चारण कवियों की बोलने की रीति तथा ढंग उनका अपना है। वीररस की घटनाओं को इतने सुन्दर ढंग से बोल सकते हैं कि श्रोता का खून खौल उठता है। नाचता हुआ घोड़ा आक्रमण करने के लिये दौड़ता है; दूसरी ओर से हाथी भी उत्तेजित होकर बारम्बार सिर को ऊपर उठाता है और खूब सूँड़ हिलाता रहता है। तभी ठीक वर्णन होता है।

प्रोत्साहन के अभाव और निर्धनता में पिसकर अब चारणों की परम्परा समाप्त होती जा रही है। राजा लोग ही इन लोगों की आजीविका की व्यवस्था करते थे। अब राजा लोग और उनकी जागीरें भी जा चुकी हैं। चारण लोग अब किसी भी तरह का कोई काम करके पेट भरने का प्रयास करते हैं। चमत्कारा अन्नचिन्ता के कारण विद्या लुप्त हो रही है।

वे सप्ताह भर प्रतिदिन 'पृथ्वीराज रासो' सुनाते रहे। एक दिन चारण कवि ने संन्यासी को मारवाड़ी भाषा में स्वामी ब्रह्मानन्द का एक वेदान्तिक पद सुनाया। चाबकी अर्थात् चाबुक। बहुत पसन्द आने के कारण संन्यासी ने उसे लिख देने के लिये कागज-पेंसिल दिया। उन्होंने उसे लेकर छोटे बच्चों के समान बड़े-बड़े टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में दो शब्द लिख दिये और बोले – लिख नहीं सकते। चेहरा लाल हो गया। बोले – ठीक से पढ़ भी नहीं सकते। कभी सीखा नहीं।

संन्यासी – ''पर इतना सब जानते हैं और वह भी इतने सुन्दर ढंग से! इतने कठिन काव्य को अर्थसहित बताया!''

उत्तर – ''यह सब देवी (जगदम्बा) की कृपा है। उनकी दया से कोई भी काव्य, कोई भी विषय दो बार सुन लेने से ही सब मन में रह जाता है। कभी भूलता नहीं। यह जो जामसाहब* की मेहरबानी हुई है और सभा-कवि का पद मिला है – यह सब उन्हीं जगदम्बा की ही कृपा है।''

जब वे गद्दी पर आरूढ़ हुए, तो उन्होंने सभी चारण कवियों को बुलवाकर कहा कि जो अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकेगा, उसी को वह पद मिलेगा। उस स्पर्धा में अच्छे विद्वान् और पढ़े-लिखे चारण भी उपस्थित थे। स्पर्धा का मापदण्ड यह था कि जो कोई नवीनता दिखा सकेगा, वे उसी को पसन्द करेंगे। राजसभा में चलनेवाले या बोले जानेवाले अधिकांश छन्द या कविताएँ तो सबको कण्ठस्थ रहती हैं। इसलिये सब लोगों ने जो कुछ सुनाया, वह सब पहले से ही ज्ञात था, परन्तु एक चतुर चारण जामसाहब के क्रिकेट-खेल में दिग्विजय की कथा को छन्द में बाँधकर लाया था। उसने उसे बड़े सुन्दर ढंग से सुनाया। जामसाहब बड़े खुश हुए। सब लोगों ने सोचा कि नौकरी उसी को मिलेगी। जामसाहब ने पूछा, ''इसे और भी कोई जानता है क्या?'' तभी मौका देखकर उन्होंने कहा, ''जरा एक बार और बोलिये तो!'' जब उसने दूसरी बार सुनाया, और जगदम्बा की कृपा से उससे भी अधिक मनोरंजक सुर में उसे कहकर सुना दिया। सभी लोग विस्मित थे – यह चारण तो विशेष कवि है। जामसाहब ने तत्काल ही उसे सभा का चारण-कवि बनाने की घोषणा कर दी। जगदम्बा की कृपा हो, तो सब कुछ सम्भव है।

❖ (क्रमशः) ❖

* जामसाहब दिलीप सिंहजी, दिलीप ट्राफी उन्हीं की स्मृति में है।

तुलादान

स्वामी सत्यरूपानन्द

महाराज वृषदर्भ अपनी राजसभा में बैठे मत्रियों और सेनापतियों आदि से राजकाज की चर्चा कर रहे थे। उनके सिंहासन के सामने सभाभवन का विस्तृत खुला भाग था। वहाँ से शुभ्र आकाश स्पष्ट दीख पड़ रहा था। राजा अभी चर्चा में लगे ही थे कि अकस्मात् आकाश से एक भयभीत थका हुआ कबूतर उनकी गोद में आ गिरा। राजा चौंक उठे। उन्होंने स्नेहपूर्वक कबूतर को उठा लिया और उसके शरीर पर हाथ फेरकर उसे थपथपाया। राजा का कोमल स्पर्श पाकर भयभीत कपोत का मन कुछ शान्त हुआ। उसने आँखें खोली और देखा कि वह राजा के हाथों में सुरक्षित है।

सुरक्षा का अनुभव करते हुये कपोत ने कातर स्वर में कहा, ''महाराज! मेरी रक्षा कीजिये। मेरे प्राण संकट में हैं।''

राजा ने उसे सान्त्वना देते हुये अभयदान दिया और कहा, ''कपोत, तुम डरो मत। तुम मेरी शरण में आये हो। मैं अपनी पूरी शक्ति से तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम नि:संकोच अपने भय का कारण बताओ।''

कपोत कुछ कहने ही जा रहा था कि एक क्रूर बाज भी उड़ता हुआ राजा की सभा में पहुँच गया। आते ही कर्कश स्वर में उसने राजा से कहा, ''राजन्! आप यह कबूतर मुझे दे दीजिये। यह मेरा आज का भोजन है। मैं भूखा हूँ। शीघ्र ही इसे मारकर मैं इसके मास से अपनी भूख मिटाऊँगा। मैं बड़ी दूर से इसका पीछा करते हुये आ रहा हूँ।''

कपोत बाज की बातें सुनकर डर के मारे राजा की गोद में सिमट गया। वह भय से पुन: काँपने लगा। महाराज वृषदर्भ ने कपोत को पुचकारा और बाज से कहा, ''पक्षीराज! यह कपोत मेरी शरण में आया है। इसने मुझसे आश्रय माँगा है। मैंने इसे अभयदान दिया है। अत: इसकी प्राणरक्षा करना मेरा धर्म है। मैं इसे तुम्हें नहीं दे सकता।''

बाज ने कहा, ''महाराज, आप कपोत की प्राणरक्षा कर मेरे प्राण लेना चाहते हैं। मैं भूख से व्याकुल हो रहा हूँ। यदि मुझे यह कपोत नहीं मिला तो मैं भूख से तड़प-तड़प कर मर जाऊँगा। मेरी मृत्यु का कारण बनना क्या आपके लिये उचित है?''

राजा बोले, ''पक्षीराज! मैं तुम्हारी मृत्यु का कारण नहीं बनना चाहता। मैं तुम्हें भूखा नहीं रखना चाहता। मैं अभी तुम्हारे उचित आहार की व्यवस्था करा देता हूँ। कहो, तुम्हें किस पशु का माँस प्रिय है? मेरी पशुशाला में सूअर, बकरे, भैंसे, आदि अनेक पशु हैं। इनमें से जिसका भी माँस तुम्हें प्रिय हो उसकी व्यवस्था कर दी जायेगी।''

बाज ने कहा, ''राजन्, मैं इनमें से किसी भी पशु का माँस नहीं खाता। मेरी भूख तो इस कपोत से ही मिट सकेगी। आप मुझे यह कपोत दे दें।''

राजा ने पुन: कहा, ''बाज, तुम्हें अन्य और जो भी आहार प्रिय हो वह बताओ। मैं उसकी व्यवस्था कर दूँगा। किन्तु यह शरणागत कपोत तुम्हें न दे सकूँगा।''

इस पर बाज बोला, ''राजन, यदि आप मुझे कपोत नहीं देना चाहते तो मेरी क्षुधातृप्ति का एक ही उपाय है, किन्तु वह उपाय बड़ा कठिन है .....।''

राजा ने बीच ही में कहा, ''पक्षीराज, तुम संकोच न करो। कपोत के अतिरिक्त जिस भी आहार से तुम्हारी क्षुधा शान्त हो सकती है वह मुझसे कहो। मैं अवश्य ही उस आहार की व्यवस्था करूँगा, चाहे मुझे कितनी भी कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े।''

राजा की बातें सुनकर बाज बोला, ''महाराज, सचमुच यदि आप मेरी क्षुधा शान्त करना चाहते हैं, तो मुझे इस कपोत के वजन का माँस अपने शरीर से स्वयं काट कर दे दीजिये।''

धृष्ट बाज की यह शर्त सुनकर सभी सभासद सन्न हो उठे। सेनापतियों ने अपनी तलवार की मुठों पर हाथ रख लिये। किन्तु राजा ने सभी को शान्त रहने का आदेश दिया और बाज से कहा, ''पक्षीराज! यदि मेरे शरीर के माँस से तुम्हारी क्षुधा शान्त हो सकती है और इस निरीह कपोत के प्राण बच सकते हैं, तो मैं सहर्ष अपने शरीर का माँस देने को प्रस्तुत हूँ।''

राजा की आज्ञा से वहाँ एक तराजू लाकर रख दिया गया। उसके एक पलड़े पर कपोत को बिठा दिया गया। दूसरे पलड़े पर राजा ने अपने ही हाथों से अपने शरीर का कुछ माँस काटकर रखा, किन्तु तराजू का पलड़ा अभी भी कपोत की ओर ही झुका था। राजा ने पुन: अपने शरीर से थोड़ा-माँस काटा और तराजू के दूसरे पल्ले पर रखा। किन्तु कबूतर का भार अभी भी अधिक था। राजा अपने अंग-प्रत्यंगों से माँस काट-काट कर तराजू पर चढ़ाने लगे, उनका सारा शरीर प्राय:

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अक्षय कुमार सेन

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

उस भक्त ने बड़ी उत्कण्ठा के साथ श्रीरामकृष्ण के चरणों का स्पर्श करने को अपना हाथ बढ़ाया, पर उन्होंने जल्दी से अपने पाँव समेट लिये। भक्त हक्का-बक्का और निराश हो गया। ठाकुर कहने लगे, "पहले तुम्हारे मन का मैल दूर हो, उसके बाद चरण-स्पर्श करना।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहले के समान ही इस बार भी ऐसे कठोर आचरण ने भक्त को उलझन में डाल दिया। अपने अनुभवों को याद करते हुए परवर्ती काल में उन्होंने लिखा था, "मेरे साथ ठाकुर जैसा व्यवहार करते थे, वैसा यदि किसी दूसरे के साथ होता, तो वह मरना पसन्द करता, पर उनके पास न जाता। कितने ही लोग उनके पैरों पर हाथ फेरते, पर जब मैं हाथ बढ़ाता, तो वे 'हो चुका, हो चुका' कहकर पैरों को समेट लेते। कभी-कभी चरणधूलि लेने के लिये जाने पर वे पीछे हट जाते और कहते, 'हो चुका, हो चुका।' "[१] ठाकुर के ऐसे आचरण से वे चाहे जितने भी विस्मित तथा निरुत्साहित होते हों, परन्तु इससे उनके ठाकुर के पास बारम्बार आने में कोई रुकावट नहीं हुई। क्योंकि श्रीरामकृष्ण से एक तरह का भय लगने के बावजूद भक्त के मन में उनके प्रति तीव्र आकर्षण भी था।

ये भक्त एक साधारण स्कूल-शिक्षक थे – नाम था अक्षय कुमार सेन। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने छोटी आँखों, मोटे होठ, चपटी-सी नाक, छोटे कद के तथा श्याम वर्ण के अक्षय को 'शाँकचुन्नी' अर्थात् 'चुड़ैल' नाम दे दिया था। परवर्ती वर्षों में सफेद लम्बी मूछों, मोटी काँचवाला चश्मा, बिखरी हुई सफेद दाढ़ी तथा सिर पर एक बड़ी पगड़ी ने सचमुच ही उन्हें एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया था। भक्तों के बीच उन्हें 'अक्षय मास्टर'[२] के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

अक्षय का जन्म १८५४ ई. में पश्चिमी बंगाल के बाँकुड़ा जिले के मैनापुर गाँव में हुआ था। पिता हलधर सेन तथा माता बिधुमुखी ने गाँव के सीमित परिवेश में उनका लालन-पालन किया। उनकी शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई, जो पढ़ने-लिखने तथा जोड़ने-घटाने के सामान्य ज्ञान तक ही सीमित थी। इसके अतिरिक्त उनके बचपन के विषय में हम लोग कुछ भी नहीं जानते। तथापि एक बात स्पष्ट है कि उनके जीवन में क्रमश: धार्मिक संस्कार तथा आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं, जिससे उनके हृदय में एक आध्यात्मिक पिपासा जाग उठी। वे अपनी गृहस्थी में आबद्ध थे। उनका दो बार विवाह हुआ था; पहला विवाह रोल-गोपाल नगर की एक कन्या से हुआ और उसके नि:सन्तान देहावसान के बाद सुधीष्ठा गाँव की एक बालिका से हुआ। इससे उन्हें एक पुत्री तथा दो पुत्र हुए।

भौतिक समृद्धि की अपनी स्वाभाविक आकांक्षा तथा

१. अक्षय कुमार सेन, श्रीश्रीरामकृष्ण महिमा, नागपुर, प्र.सं., पृ. २८

२. 'मास्टर' शब्द सामान्यत: स्कूल-शिक्षक के लिये प्रयुक्त होता था।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

माँस रहित हो गया किन्तु उतना माँस भी निरीह कपोत के भार के बराबर न हो सका ! अन्त में राजा स्वयं ही उस तराजू के पलड़े पर चढ़ने को उद्यत हुये।

उसी समय आकाशमंडल में चारों ओर देव-दुन्दुभियाँ बजने लगीं। देवगण धन्य-धन्य की ध्वनि करते हुये पुष्प-वृष्टि करने लगे। बाज और कपोत वहाँ से अर्न्तधान हो गये, किन्तु दूसरे ही क्षण सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुये देवराज इन्द्र तथा अग्नि देव वहाँ प्रकट हुये। इन्द्र ने अमृत सींचकर राजा वृषदर्भ को पुन: स्वस्थ कर दिया। राजा की देह दिव्य हो गई। देवराज ने उन्हें गले से लगा लिया और उन्हें साधुवाद देते हुये कहा, "राजन् ! तुम धन्य हो ! बाज के रूप में मैं तथा कपोत के रूप में अग्निदेव तुम्हारे धैर्य और धर्म की परीक्षा ले रहे थे। तुम इस परीक्षा में पूर्णत: उत्तीर्ण रहे हो। जब तक संसार में सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे, तब तक तुम्हारी कीर्ति अक्षुण्ण रहेगी और लोग तुम्हारे अपूर्व चरित्र से प्रेरणा ग्रहण करते रहेंगे।"

यथासमय स्वधर्म-पालन में तत्पर महाराज वृषदर्भ को परम पद की प्राप्ति हुई।

महाभारत की यह कथा इस आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन करती है कि मनुष्य दूसरों की नि:स्वार्थ सेवा द्वारा उसी परम पद को प्राप्त कर सकता है जिसे ज्ञानी ज्ञान से, योगी योग से और तपस्वी तपस्या से प्राप्त करता है। ❑

भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन की अदम्य पिपासा के साथ वे एक-एक कर अनेक बाधाएँ पार करते गये और अन्तत: उन्हें अपनी आर्थिक समस्या का एक तात्कालिक समाधान मिल गया – वे जोड़ासाँको (कलकत्ता) के टैगोर परिवार के कुछ बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने लगे। परन्तु इससे भी उनके लिये अपनी आजीविका चला पाना कठिन हो रहा था और इन विनयशील शिक्षक को बहुधा निर्धनता की मार झेलनी पड़ती थी। बीच-बीच में दु:ख की काली तथा घनघोर घटाएँ आकर उनके मन-प्राणों को आच्छन्न कर लेतीं।

श्रीरामकृष्ण के एक विशिष्ट भक्त देवेन्द्रनाथ मजुमदार[३] उन दिनों टैगोर-परिवार की जमींदारी के खजांची दफ्तर में काम कर रहे थे। एक दिन, जब अक्षय टैगोर-भवन के दुमंजले के बरामदे में बैठे हुक्का पी रहे थे, तभी उन्होंने देखा देवेन्द्रनाथ किसी धार्मिक विषय पर बोल रहे हैं और कुछ लोग उसे बड़ी एकाग्रता के साथ सुन रहे हैं। अक्षय के कानों में एक बार 'परमहंस' शब्द भी पड़ा। सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न तथा जीवन्मुक्त – सर्वोच्च कोटि के संन्यासी को परमहंस कहते हैं। – "तो फिर देवेन्द्रनाथ जिनके बारे में बोल रहे हैं, वे परमहंस कौन हैं?" यह जानने की उत्सुकता के साथ अक्षय शीघ्र ही देवेन्द्र के ही पास जा पहुँचे और उनसे परमहंस के बारे में बताने का अनुरोध किया। परन्तु देवेन्द्र ने उत्तर दिया, "तुम भला उनके बारे में क्या समझ सकोगे?" अक्षय क्षुब्ध और निराश हुए। तो भी उन्हें मालूम था कि अनेक उच्च श्रेणी के लोग उनके जैसे निर्धन तथा साधारण कोटि के व्यक्ति को तुच्छता की दृष्टि से ही देखेंगे। इस प्रकार ऐसे रुक्ष व्यवहार के बावजूद अक्षय ने उनका इतना तीव्र आकर्षण महसूस किया कि उन्होंने उन्हें तरह-तरह से प्रसन्न करने का प्रयास किया। अक्षय ने उनके अहीरीटोला में स्थित घर जाकर कुछ व्यक्तिगत सेवा करने की भी इच्छा जतायी। एक दिन उसी टैगोर-भवन में अक्षय ने सुना – देवेन्द्र अपने नियमित श्रोताओं से कह रहे थे कि वे बीच-बीच में दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण परमहंस के पास जाया करते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि टैगोर के एक पौत्र धीरेन्द्र भी कभी-कभी उनके साथ दक्षिणेश्वर जाते हैं और श्रीरामकृष्ण उनके प्रति बड़ा स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं। परमहंस के विषय में अक्षय की जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी। उनके विषय में और अधिक जानने की इच्छा से अक्षय ने एक बार और देवेन्द्र से परमहंस के विषय में पूछा। देवेन्द्र ने युवा टैगोर की ओर संकेत करते हुए कहा, "इस विषय में ये तुम्हें और भी अधिक बता सकते हैं। मैं तो प्राय: नहीं के बराबर ही जानता हूँ।" परन्तु अक्षय ने जब उस युवक से पूछा, तो उसने उत्तर दिया, "ये (देवेन्द्रनाथ) ही तो मुझे वहाँ ले गये थे। मैं उनके (श्रीरामकृष्ण) के विषय में क्या जानूँगा? आप कृपया स्वयं देवेन्द्र से ही पूछिये।"[४]

अक्षय ने एक बार फिर स्वयं को अपमानित तथा दुखी महसूस किया। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें ! तो भी बड़े विस्मय की बात है कि जिन परमहंस के बारे में वे कुछ भी नहीं जानते थे, उनके प्रति वे और भी अधिक आकर्षण का अनुभव करने लगे। अस्तु, संकोची स्वभाव के होने के कारण श्रीरामकृष्ण से उनके मिलने की भूमिका बनने में और भी पाँच-छह महीने लग गये।

अक्षय जब पहली बार श्रीरामकृष्ण से मिलने में सफल हुए, तब उनकी आयु का तीसवाँ वर्ष चल रहा था। इसके एक वर्ष पूर्व उनके गाँव के पुरोहित ने उन्हें कृष्ण-मंत्र की दीक्षा दी थी। उन्होंने सहज भाव से सोचा था कि मंत्र जप शुरू करने के बाद शीघ्र ही श्रीकृष्ण के दर्शन मिल जायेंगे, परन्तु वैसा नहीं हुआ था, इसलिये वे स्वाभाविक रूप से ही कुछ निराश थे। इस पर पुरोहित ने उनसे कहा था कि ऐसी उपलब्धि के लिये उन्हें तपस्या आदि करनी होगी – 'गंगा के किनारे रहो और स्नान के बाद केवल बारह बार जप करो।' परन्तु इससे साधक अक्षय को समाधान नहीं मिला। वे इससे हताश तो अवश्य हुए, परन्तु इससे श्रीकृष्ण के दिव्य दर्शन तथा सान्निध्य का रसास्वादन करने की आकांक्षा और भी तीव्र हो उठी। उनकी यह व्याकुलता इतनी प्रबल हो उठी थी कि वे स्वयं को वृन्दावन की एक गोपिका ही समझने लगे।[५]

फिर, एक दिन अक्षय ने देखा कि देवेन्द्र टैगोर-परिवार के कुछ लोगों को गाड़ी में बैठाकर श्रीरामकृष्ण से मिलाने के लिये ले जाने की तैयारी कर रहे हैं। अक्षय ने सोचा कि भाग्य में चाहे जो भी लिखा हो, परन्तु परमहंस से परिचित होने के लिये एक बार और हृदय से प्रयास करना होगा। वे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहे और वे लोग ज्योंही गाड़ी में सवार होने लगे, त्योंही वे दौड़कर गये और अपने दोनों हाथों से देवेन्द्र के चरण पकड़कर अनुरोध किया, "महाशय, आप जिस जगह जा रहे हैं, कृपा करके मुझे भी अपने साथ जाने की अनुमति दीजिये।" देवेन्द्र राजी हो गये।

१८८५ ई. के प्रारम्भ के एक शनिवार का दिन था।[६]

३. देवेन्द्रनाथ विषयक एक विवरण के लिये देखें – Life of Sri Ramakrishna (Advaita Ashrama, Mayavati, 1964), pp. 466 ff.

४. श्रीरामकृष्ण ओ देवेन्द्रनाथ (बँगला), गुरुदास बर्मन, उद्बोधन, वर्ष २९, अंक १, पृ. ८

५. श्रीश्रीरामकृष्ण महिमा, पृ.२६-७। उपरोक्त गोपिकाएँ श्रीकृष्ण को अपने प्रियतम के रूप में देखती थीं।

६. जैसा कि विदित है १८८५ ई. की जनवरी में किसी दिन हुई श्रीरामकृष्ण के साथ गिरीशचन्द्र घोष की छठवीं भेंट के पहले तक अक्षय ने ठाकुर का दर्शन नहीं किया था। 'म' (वचनामृत, खण्ड २, १९९९, पृ. ८८१) बताते हैं कि ६ अप्रैल १८८५ ई. को देवेन्द्र के

कलकत्ते के उत्तरी उपनगरीय अंचल में स्थित १०० नं. काशीपुर रोड पर स्थित महिमाचरण चक्रवर्ती के मकान में श्रीरामकृष्ण के आगमन पर भक्तगण वहाँ उत्सव मना रहे थे। शाम को पाँच बजे देवेन्द्र तथा कुछ अन्य लोग एक गाड़ी में वहाँ आ पहुँचे। वहाँ रामचन्द्र दत्त, मनोमोहन मित्र, सुरेन्द्रनाथ मित्र, महेन्द्रनाथ गुप्त, विजय कृष्ण गोस्वामी तथा और भी अनेक लोग उपस्थित थे। वे लोग फर्श पर बिछी हुई एक सफेद चादर पर बैठे हुए थे। चारों ओर उत्सव तथा आनन्द का माहौल था। देवेन्द्र तथा धीरेन्द्र टैगोर ने कमरे में आकर श्रद्धापूर्वक श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया।[७] अन्य लोगों के समान ही अक्षय ने भी ठाकुर की पवित्र चरणधूलि ली।[८] प्रणाम करते समय अक्षय ने देखा कि ठाकुर मुस्कुराते हुए उन पर कृपादृष्टि डाल रहे हैं। इतना ही यथेष्ट था।

अक्षय स्वयं में एक परिवर्तन का अनुभव करने लगे। आनन्द की एक तरंग ने उनके मन को आच्छन्न कर लिया। एक अज्ञात प्रेम-भाव से उनका हृदय परिपूर्ण हो उठा। मानो वे स्वयं को भूल गये, अपने अतीत को भूल गये और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वे श्रीरामकृष्ण के चारों ओर बैठे भक्तों की टोली में सम्मिलित होकर एक नये राज्य में पहुँच गये हैं। श्रीरामकृष्ण कमरे में एक ओर बैठे वहाँ एकत्र लोगों की ओर देख रहे थे – उनके व्यक्तित्व तथा उनकी वाणी में सब कुछ असाधारण प्रतीत हो रहा था; और अक्षय को अदम्य रूप से आकृष्ट कर रहा था। बीच-बीच में वे उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों के विषय में बोल रहे थे, जो अक्षय की समझ के परे थे, परन्तु कुल मिलाकर उनके मर्मस्पर्शी शब्दों ने अक्षय को भावविभोर कर दिया।

शीघ्र ही श्रीरामकृष्ण एक हृदय-स्पर्शी भजन गाने लगे –
(भावार्थ) **हरिनाम कहते ही जिनके आँसू झरते हैं,**
वे दोनों भाई आये हैं;
जिनके समान दयालु अन्य कोई नहीं है,
वे दोनों भाई आये हैं;
जो अपने-पराये का भेद नहीं करते,
वे दोनों भाई आये हैं;
जो मार सहकर भी प्रेम बाँटते हैं,
वे दोनों भाई आये हैं;
जो दोनों ब्रज के कन्हैया और बलराम हैं,
वे दोनों भाई आये हैं;
जिन्होंने जगाई और मधाई का उद्धार किया था,
वे दोनों भाई आये हैं।।[९]

भक्तगण भी खोल-करताल आदि लेकर उनके साथ गाने लगे। श्रीरामकृष्ण दिव्य भाव में मतवाले होकर नृत्य करने लगे। उनका मुख-मण्डल प्रेम तथा आनन्द से उद्भासित हो उठा। कभी वे संगमरमर की मूर्ति के समान स्थिर होकर गहन समाधि में डूब जाते, तो कभी अर्ध-बाह्य दशा में धीरे-धीरे नृत्य करने लगते और कभी फिर तीव्र वेग से नाचने लगते। महिमा का भवन आध्यात्मिक परिवेश तथा मन को उन्नयन करनेवाले भावों से स्पन्दित होता हुआ स्वर्ग-सदृश प्रतीत हो रहा था। अक्षय की दृष्टि में यह अलौकिक नाटक तब चरम-बिन्दु पर जा पहुँचा, जब महिमाचरण ने अपनी उंगली से श्रीरामकृष्ण की ओर इंगित करते हुए कहा, "ये रहे हमारे श्रीकृष्ण!" इस वाक्य ने अक्षय के हृदय में मानो एक चिनगारी जला दी। उन्होंने अनुभव किया कि ठाकुर सचमुच वही भगवान कृष्ण हैं, जिनकी खोज वे अपनी तरुणाई से ही करते आ रहे थे। श्रीरामकृष्ण उन्हें प्रेम की साक्षात् प्रतिमूर्ति प्रतीत हुए।[१०]

गाना तथा नृत्य समाप्त हो जाने के बाद, लगभग नौ बजे श्रीरामकृष्ण का मन सामान्य अवस्था में लौट आया। भक्तगण उन्हें पंखा झलने लगे तथा पीने को ठण्डा पानी दिया। इसके बाद सबने अपने मेजबान महिमाचरण के निमंत्रण पर स्वादिष्ट भोजन का रसास्वादन किया। फिर श्रीरामकृष्ण बगल के कमरे में चले गये और वहाँ बीच-बीच में भक्तों के साथ चर्चा करते रहे। इसके बाद वे सहसा एक बार फिर अपनी मधुर वाणी में वह भजन गाने लगे, जिसमें श्रीकृष्ण कहते हैं –

मैं मुक्ति देने में कातर नहीं होता,
पर शुद्धा भक्ति देने में कातर होता हूँ।
शुद्धा भक्ति एकमात्र वृन्दावन में है
जिसे गोप-गोपियों के सिवा अन्य कोई नहीं जानता।
भक्ति के कारण मैं नन्द के भवन में
उन्हें पिता जानकर उनके जूते सिर पर ले चलता हूँ।
सुनो चन्द्रावलि, भक्ति की बात करता हूँ –
मुक्ति तो मिलती है, पर भक्ति नहीं मिलती!
भक्ति के कारण ही मैं पाताल में
बलिराजा का द्वारपाल होकर रहता हूँ।।[११]

जिस 'शुद्ध प्रेम' के लिये अक्षय के मन में तीव्र लालसा थी, श्रीरामकृष्ण अपने मुख से उसी के विषय में उनके इष्टदेव की उक्ति गाकर उस विषय में अपना स्वयं का दृष्टिकोण व्यक्त कर रहे थे। सचमुच ही, इसे सुनकर अक्षय को कितना आनन्द

घर में एकत्र भक्तों में अक्षय भी थे। अत: श्रीरामकृष्ण के साथ अक्षय की पहली भेंट इन दो घटनाओं के बीच के काल में कभी हुई होगी। गुरुदास बर्मन (पूर्वोद्धृत, पृ.९३) कहते हैं कि वह एक शनिवार था।

७. अक्षय कुमार सेन, श्रीश्रीरामकृष्ण पुंथी (बँगला), ष.सं., पृ. ४०३

८. इस बार ठाकुर ने अक्षय को अपना चरण छूने दिया था – इस घटना के बारे में गुरुदास बर्मन तथा स्वयं अक्षय – दोनों एकमत हैं।

९. श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी, पृ. ४०४

१०. गुरुदास बर्मन, पूर्वोद्धृत, पृ. ९

११. श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी, पृ. ४०४

हुआ होगा ! शुद्ध प्रेम को श्रीरामकृष्ण कितना पसन्द करते थे ! घण्टों बीत गये, परन्तु ठाकुर के चारों ओर एकत्र इस मंत्रमुग्ध मण्डली में से कोई भी वहाँ से हिलने को तैयार नहीं था। परन्तु अन्ततः श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही इस बैठक का पटाक्षेप किया और दक्षिणेश्वर को लौट पड़े।

अक्षय को लगा कि श्रीरामकृष्ण ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया है और न ही दुबारा उनकी ओर दृष्टिपात ही किया है। लगता है कि विदा लेते समय ठाकुर ने उन्हें दुबारा चरण-स्पर्श की अनुमति नहीं दी। वस्तुतः वहाँ के आध्यात्मिक परिवेश ने अक्षय को इतना अभिभूत कर दिया था कि लगता है कि उन्हें श्रीरामकृष्ण से बात करने की आवश्यकता भी नहीं प्रतीत हुई।

देवेन्द्र, धीरेन्द्र तथा अक्षय जिस गाड़ी में लौटने वाले थे, उसी में ठाकुर के सुपरिचित भक्त रामचन्द्र दत्त भी सवार हुए। रामबाबू रास्ते भर श्रीरामकृष्ण के बारे में ही बोलते रहे। उनका वर्णन इतना आकर्षक था कि अक्षय सीधे घर लौटने की जगह रामबाबू के साथ ही गाड़ी से उतर गये और उनके घर तक साथ गये। वहाँ पहुँचकर भी वे रामबाबू के मुख से निकलने वाले प्रत्येक शब्द को उत्सुकता के साथ सुनते रहे। उनके साथ काफी देर तक बातें करने के बाद अक्षय अपने हृदय में एक अभूतपूर्व आनन्द के साथ अपने घर लौट पड़े। उनके मानस-क्षितिज पर 'रामकृष्ण-चन्द्र' का उदय हो रहा था, जो शीघ्र ही अपनी उज्ज्वल चाँदनी से उनके हृदय को आलोकित कर देने वाला था। जब वे घर पहुँचे, तो रात के दो बज चुके थे।[१२]

दो या तीन दिनों बाद अक्षय एक मित्र के साथ दक्षिणेश्वर गये। इस बार ठाकुर ने अक्षय के विषय में पूरी जानकारी ली और साथ ही यह भी पूछा कि क्या वे ब्राह्म हैं? परन्तु अक्षय ब्राह्मसमाज के विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ थे; नहीं जानते थे कि ब्राह्म क्या होता है। अतः वे कोई उत्तर नहीं दे सके।[१३] उस दिन अक्षय श्रीरामकृष्ण का चरण स्पर्श करने में सफल नहीं हुए। उस बार तथा बाद में भी कई बार ठाकुर ने उन्हें मना करते हुए कहा था, "पहले मन का मैल दूर हो, उसके बाद करना।" अक्षय श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा भाव-समाधियों को देखकर भीत-चकित रह जाते; यहाँ तक की उन्हें चलते-फिरते देखकर भी अक्षय विस्मय से आकुल हो उठते। तात्पर्य यह कि अपने पिता के समान ही, ठाकुर के प्रति भी उनका सम्मान भय-मिश्रित था। बड़े आश्चर्य की बात है कि श्रीरामकृष्ण के चेहरे के साथ उन्हें अपने पिता के चेहरे का मेल दिखाई देता; और आजीवन उन्हें ऐसा ही अनुभव होता रहा।[१४] परन्तु इस भय के बावजूद उनके लिये ठाकुर के आध्यात्मिक आकर्षण से बच निकलना सम्भव न था। दिन-पर-दिन वे अधिकाधिक उनके प्रति सम्मोहित होते गये।

इसके बाद वे और भी कई बार श्रीरामकृष्ण के पास गये। इससे अक्षय की यह धारणा और दृढ़ हो गयी कि केवल श्रीरामकृष्ण ही उन्हें भगवान कृष्ण का दर्शन करा सकते हैं। दूसरों को यह बात चाहे जितनी भी असम्भव लगे, परन्तु वे जब भी दक्षिणेश्वर जाते, हर बार बड़ी ऊँची आकांक्षा लेकर जाते। उन्होंने बाद में लिखा था, "मैंने परमहंसदेव से एक दिन भी कोई बात नहीं की और कुछ पूछा भी नहीं। परन्तु मैं यह अवश्य जानता था कि वे जिसकी छाती पर हाथ रख दें, वह बेहोश हो जाता है और उस अवस्था में कृष्ण को देख पाता है। मैं इसी आशा से उनके पास जाने लगा। परन्तु एकमात्र वही आशा हो, ऐसी भी बात नहीं थी। उनको देखने से मेरी विचित्र हालत हो जाती थी। इसीलिये मैं उनके पास जाता और सोचता कि कब वे कृपा करके अपना हाथ मेरी छाती पर रखेंगे। कितने ही दिन बीत गये, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। मैं आशा लेकर जाता और निराश होकर रोते हुए लौट आता।"[१५]

तथापि निष्ठापूर्वक श्रीरामकृष्ण की उक्तियों तथा क्रियाओं पर अपना ध्यान एकाग्र रखने के कारण अक्षय को बीच-बीच में आशा की किरण दीख जाती। वस्तुतः उनकी भावनाएँ एक दोलक के समान बारम्बार आशा से निराशा और निराशा से आशा की ओर झूलती रहीं। पर आखिरकार उनके महान् सौभाग्य का उदय हुआ और उनकी चिर-इच्छा पूरी हुई।

१ जनवरी, १८८६ ई. का दिन। श्रीरामकृष्ण अपने गले के कैंसर की चिकित्सा के लिये काशीपुर के उद्यान-भवन में ठहरे हुए थे। उस दिन उन्होंने अपने अनेक गृही भक्तों पर कृपा की, जिनमें अक्षय भी एक थे। जिस समय ठाकुर अपनी भावावस्था में सबके ऊपर कृपा कर रहे थे, तभी अक्षय ने उनके चरणों में चम्पा के दो फूल अर्पित किये। इसके बाद ठाकुर ने अपने हाथों से उनके सीने का स्पर्श करते हुए उनके कानों में एक महामंत्र प्रदान किया। अक्षय को इस आशीर्वाद से असीम आनन्द की अनुभूति होने लगी। भावनाओं के आवेग को सह पाने में अक्षम होकर वे धरती पर गिर पड़े और उनके शरीर के अंगों ने टेढ़ा-मेढ़ा होकर एक विचित्र आकार धारण कर लिया। वे आनन्द से आँसू बहाने लगे।[१६] श्रीरामकृष्ण के इस 'आत्म-प्रकाश' तथा 'अभयदान'[१७] पर अक्षय के आनन्द की सीमा न रही। सचमुच ही उनका जीवन धन्य हो गया और वे काफी समय तक दिव्य आनन्द की तरंगों में डूबे रहे। इस घटना ने उनके जीवन में एक नये जगत् का द्वार खोल दिया।

१२. गुरुदास बर्मन, पूर्वोद्धृत, पृ.१०

१३. श्रीश्रीरामकृष्ण महिमा, पृ.२६

१४. वही, पृ.२८-९

१५. वही, पृ.२८

१६. स्वामी गम्भीरानन्द, श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, द्वितीय भाग, सं. १९८९, पृ. ३०२-०३

१७. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, नागपुर, तृतीय खण्ड, प्रथम संस्करण, पृ. २९०

इससे स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क से अन्य अनेक लोगों के समान ही अक्षय में भी महान् परिवर्तन आये। परन्तु उनके जीवन में आया यह बदलाव कुछ विशेष था। ठाकुर से मिलने के पहले ही, उन्होंने मात्र उनका 'परमहंस' नाम सुनकर ही उनके प्रति आकर्षण का अनुभव किया था; और उनके प्रथम दर्शन के समय ही उनका मन सम्मोहित हो उठा था। तो भी ठाकुर के विषय में उनकी 'समझ' काफी हद तक उनकी क्षुद्र व्यक्तिगत भावनाओं, निराधार भयों तथा अकल्पनीय आशाओं द्वारा प्रभावित थीं। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उनकी साधनाओं तथा श्रीरामकृष्ण के मूक आशीर्वाद से उनकी भावनाएँ संयत होती गयीं और विचार स्पष्ट होते गये। श्रीरामकृष्ण के विषय में उनकी व्यक्तिगत धारणाओं में बदलाव की इस प्रक्रिया की झलक उनके परवर्ती काल के इस वर्णन में देखी जा सकती है – ''रामकृष्णदेव ने अब तक मुझे जो कुछ दिखलाया और समझाया है, उससे मैं भलीभाँति देख और समझ पाया हूँ कि वे ही भगवान, भगवान के अवतार, जगत् के स्वामी और सर्व-शक्तिमान हैं। वे ही राम, वे ही कृष्ण, वे ही काली और वे ही अखण्ड सच्चिदानन्द हैं, जो (अशुद्ध) मन-बुद्धि से परे और फिर (शुद्ध) मन-बुद्धि के गोचर हैं।''[१८]

देवेन्द्र को वे अपना द्वितीय गुरु मानकर उनके प्रति श्रद्धा रखते थे।[१९] अक्षय के जीवन का सम्भवत: सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य था – देवेन्द्र की सलाह पर 'श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी' नामक ग्रन्थ की रचना। उन्होंने स्वयं ही अपने को अल्प शिक्षित तथा साधारण बुद्धि से युक्त बताया है और अपने इस ग्रन्थ को 'बन्दरों द्वारा गाई हुई राम की स्तुति' कहा है।[२०] परन्तु स्वामी विवेकानन्द जैसे अधिकारी पुरुष ने उनके इस ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। स्वामी रामकृष्णानन्द के नाम एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा, ''उसकी लेखनी के माध्यम से श्रीरामकृष्ण ही स्वयं को अभिव्यक्त कर रहे हैं। धन्य है अक्षय! ... इस ग्रन्थ को पढ़कर मुझे जो आनन्द हुआ है, उसका मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। ... मैं कहता हूँ कि स्वयं अक्षय और उसकी पुस्तक – दोनों को जनता में एक प्रकार का विद्युत्संचार कर देना चाहिए। प्रिय अक्षय, मैं हृदय से तुम्हें आशीष देता हूँ। प्यारे भाई! प्रभु तुम्हारी जिह्वा पर विराजमान रहें। जाओ, द्वार-द्वार उनका उपदेश सुनाओ। तुम्हें संन्यासी बनने की कोई जरूरत नहीं। ... भविष्य में अक्षय बंगाल की जनता के लिए एक धर्मदूत होगा। अक्षय का ख्याल रखना। उसकी भक्ति और श्रद्धा फलवती हुई है।''[२१]

१८. श्रीश्रीरामकृष्ण महिमा, पृ.१२

१९. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, द्वितीय भाग, पृ. ३०२

२०. श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी, पृ. ४३२

२१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, प्रथम संस्करण, पृ. ३२२-२३

परवर्ती जीवन में अक्षय की प्रतिभा उनकी उत्कृष्ट पुस्तक 'श्रीश्रीरामकृष्ण-महिमा' (१९१०) के माध्यम से अपनी चरम सीमा तक पहुँची। इस ग्रन्थ ने श्रीरामकृष्ण के भक्तों के हृदय में उनके लिये एक विशेष स्थान सुरक्षित कर दिया है। इसी में उनकी साहित्यिक निपुणता, सूक्ष्मदर्शी बुद्धि तथा सर्वोपरि उनके आध्यात्मिक जीवन में उन्नति का निदर्शन मिलता है।

अक्षय ने कुछ वर्ष और 'बसुमती प्रकाशन गृह' में क्लर्क का कार्य किया, परन्तु जब वृद्धावस्था तथा रोगों से ग्रस्त होने लगे, तब सेवा से अवकाश लेकर वे अपने गाँव चले गये और ७ दिसम्बर १९२३ ई. को अपनी मृत्यु होने तक वहीं निवास किया।[२२] जीवन के उतार-चढ़ावों के बीच, अनेक कष्टों-कठिनाइयों तथा दुर्लभ आनन्दों का भोग करते हुए, अक्षय ने क्रमश: श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों को अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया और अन्तत: उनके एक सच्चे सन्देश-वाहक बन गये। स्वामी विवेकानन्द ने उपरोक्त पत्र में उनके लिये यही सलाह लिख भेजा था, ''अक्षय उनकी (श्रीरामकृष्ण) पूजा घर-घर में प्रचलित करा दे। ... जो कोई प्रेम से उनकी पूजा करेगा, उसका सदा के लिए कल्याण हो जायेगा।'' अक्षय ने इसी को अपने जीवन का ध्येय बना लिया था।

अक्षय का जीवन श्रीरामकृष्ण की दिव्य लीलाओं की सुगन्ध से परिपूर्ण था और उन्होंने अपने ग्रन्थों, पत्रों तथा व्याख्यानों के माध्यम से उत्साहपूर्वक उन्हीं का महिमा-गान किया। दमा, बीमारी तथा पारिवारिक समस्याओं के बीच भी वे अपना समय ईश्वर-चिन्तन में बिताया करते और कभी-कभी उसी की गहराई में डूब जाते। उनके गुरुदेव की दिव्य महिमा का एक कण भी कितना कुछ सम्पन्न कर सकता है, वे स्वयं को इसी का एक जीवन्त उदाहरण मानते थे। एक पत्र में उन्होंने लिखा था, ''उन्हीं के लिये व्याकुल होओ, जिन्होंने मुझे आप लोगों की मण्डली में बैठने की योग्यता दी है। मेरे जैसे कितने ही यंत्र उनकी महिमा का डंका बजा रहे हैं – उनकी गणना कौन कर सकता है? यह सब श्रीरामकृष्ण की ही महिमा है।''[२३]

अक्षय के समान इतने साधारण तथा प्रतिकूल पृष्ठभूमि से आकर इस प्रकार श्रीरामकृष्ण के महान् गृही भक्तों के पुष्पोद्यान में प्रस्फुटित होना – हमें भी आशा का एक उज्ज्वल सन्देश प्रदान करता है। ❑❑❑

२२. श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, द्वितीय भाग, पृ. ३०५

२३. भक्तवाणी (अक्षय कुमार सेन के पत्र) (बँगला), १३६८, पृ.३८

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१७२. ऊँचे कुल में जन्म से ऊँच होत नहिं कोय

महर्षि शाल्विन की दो पत्नियों में से एक 'श्लेषा' ब्राह्मण -कन्या थी, तो दूसरी 'इतरा' जन्म से शूद्र। दोनों में तनिक भी सौतिया डाह न था; वे सदा आपस में सहोदर बहनों जैसा व्यवहार करती और सुख-शान्ति के साथ पति-सेवा में लगी रहतीं। दोनों को एक-एक पुत्र था। किशोर वय हो जाने पर एक दिन दोनों पिता के यज्ञस्थल पर गये। महर्षि ने ब्राह्मण-पत्नी के पुत्र को तो गोद में बिठा लिया, किन्तु इतरा के पुत्र को आश्रम में वापस जाने को कहा। पिता द्वारा अपने प्रति भेदभाव बरतने के कारण उसने स्वयं को अपमानित महसूस किया और उसने आश्रम में आकर माता को सारा हाल कह सुनाया। दोनों माताओं को पति के इस भेदपूर्ण व्यवहार पर आश्चर्य हुआ। मगर उन्हें खामोश रहना ही उचित लगा।

कुटिया में लौटकर बालक ने माता से कहा, "मैं पिताश्री को गुरु का दर्जा देता था। दीक्षा उन्हीं से लेना चाहता था, परन्तु अब इससे वंचित रहूँगा। यदि तुम मुझे कोई उत्तम गुरु बताओगी तो मैं उनसे दीक्षा ग्रहण करूँगा।" माता ने कहा, "बेटा, एक बार तूने जिसे गुरु मान लिया है, वे ही तेरे गुरु हुए। वे भले ही तुझे प्रत्यक्ष रूप से दीक्षा नहीं देंगे, फिर भी तुम्हें उनकी मुखाकृति को चित्त में रखकर मनन-चिन्तन करते हुए ज्ञान-साधना में लगकर आत्मोन्नति करनी चाहिये।

कुछ वर्षों बाद इतरा-पुत्र एक दिन सहसा एक हस्तलिखित ग्रन्थ लेकर कुटिया में आया। उसने पिता एवं माताओं का अभिवादन किया और साथ में लाये हुए हस्तलिखित ग्रन्थ को पिता के हाथों में सौप दिया। मुनि ने ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा। पुत्र द्वारा वेदों की मौलिक ढंग से की गई उत्कृष्ट व्याख्या देखकर उन्हें उसकी कुशाग्र बुद्धि की प्रतीति हो गई। उन्होंने कहा, "बेटा, यज्ञस्थल पर मैंने तुम्हारा तिरस्कार तथा अपमान किया, इसके लिये मुझे लज्जा एवं ग्लानि हो रही है। मैं जान गया कि उच्च वर्ण में जन्म लेने से कोई उच्च नहीं होता, किसी भी वर्ण में जन्म लिया हुआ व्यक्ति यदि उसमें लगन, परिश्रम की भावना, कर्मठता एवं विद्वत्ता हो, तो वह अपनी कृति या कर्मों द्वारा श्रेष्ठ हो सकता है। पुत्र बोला, "तात, यज्ञ जैसे पुण्य कार्य में आपने मुझे शूद्र माता के गर्भ से जन्म लेने के कारण अमंगल-सूचक मानव कहकर वहाँ भगा दिया। आपका यह भेदपूर्ण व्यवहार मुझे सालता रहा, परन्तु माता के आदेश को शिरोधार्य करके मैं सतत आपका स्मरण करता रहा। मुझमें कुछ करने की इच्छा जागृत हुई। इसी की परिणति यह ग्रन्थ है।" मुनि ने उसे आलिंगनबद्ध करते हुए कहा, "बेटा, तुमने इस ग्रन्थ की सृजन करके माँ-इतरा का नाम उज्ज्वल किया है। आज से तुम ऐतरेय कहलाओगे। बाद में वह श्रेष्ठ वैदिक ग्रन्थ 'ऐतरेय-ब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१७३. जो गरीब का हित करें, धन्य धन्य वे लोग

एक बार माधवराव पेशवा नाना फडनवीस के साथ पालकी में बैठकर नगर-भ्रमण करने निकले। रास्ते में उन्हें एक वृक्ष के नीचे एक गरीब अर्धनग्न बालक खड़ा दिखाई दिया। उन्होंने पालकी रुकवाकर बालक को बुलवाकर पूछा, "सड़क के किनारे खड़े होकर तुम क्या सोच रहे हो?"

उसने उत्तर दिया, "महाराज, मैं एक अनाथ बालक हूँ, उदार सज्जनों की दया से, या कुछ काम करके जो भी मिल जाय, उसी से गुजारा कर लेता हूँ। काम न मिला, तो भूखे भी रहना पड़ जाता है। मेरे अधनंगे तन को ढकने के लिये यदि आप एक फड़का (कपड़े का टुकड़ा) दे दें, तो आपकी बड़ी कृपा होगी।" पेशवा ने नाना से कहा, "इसे एक फड़का देने की व्यवस्था करें।" 'फड़का' शब्द सुनते ही नाना को स्मरण हो आया कि पेशवा के क्षेत्राधिकार में फड़का नाम का एक गाँव भी है। उन्होंने साथ चल रहे अधिकारी से लड़के को 'फड़का' ग्राम इनाम के तौर पर देने का फरमान जारी करने को कहा। पेशवा ने सुना, तो नाना से कहा, "मैंने तो फड़का ग्राम देने को नहीं कहा था!"

नाना ने उत्तर दिया, "महाराज, इस गरीब बालक को आपने यदि केवल फड़का दिया होता, तो बखर (सरकारी दस्तावेजों) में लिखा जाता कि पेशवा ने दया से अभिभूत होकर एक गरीब बालक को फड़का दिया। यह आप जैसे दानवीर के लिये कदापि शोभनीय नहीं था। मेरी धृष्टता को क्षमा करें। यह मेरी अनधिकार चेष्टा ही है। किन्तु इनाम के रूप में इस गरीब बालक को ग्राम देने से सर्वत्र आपकी कीर्ति की सुगन्ध फैलेगी। नाना की दूरदर्शिता से पेशवा प्रसन्न हो गये। उन्होंने नाना की पीठ थपथपाई। फड़का ग्राम इनाम में मिलने से उस बालक का कुलनाम फडके पड़ गया।

पुण्य तथा यश-कीर्ति की इच्छा करनेवाले राजा तथा अमीरों को चाहिये कि वे दीन-दुखियों की खुले हाथों सहायता करें। इससे उनकी सत् प्रवृत्ति का विकास होगा, आत्मसन्तुष्टि भी होगी और इहलोक-परलोक भी सुधरेगा। ❑❑❑

छपरा-विभूति : स्वामी अद्भुतानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

लाटू महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी अद्भुतानन्द जी भगवान श्रीरामकृष्णदेव के एक प्रमुख शिष्य और स्वामी विवेकानन्द जी के गुरुभाई थे। उनका जीवन इस बात का एक जीवन्त निदर्शन है कि कोई व्यक्ति साधारण परिवेश में जन्म लेकर और लालित-पालित होकर भी महानता के अति उच्च शिखरों पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

छपरा में जन्म तथा बचपन

लाटू महाराज का जन्म छपरा जिले के किसी अज्ञात गाँव में एक गड़ेरिये के घर में हुआ था। इस विषय में कुछ खास जानकारी नहीं मिलती। यह प्रसंग उठने पर वे नाराज होकर कहते – "अरे, ईश्वरीय तत्त्व को छोड़कर क्या तुम लोग मेरी बात में समय बिताओगे?" तो भी यदा-कदा उनके मुख से अपने बचपन की दो-चार बातें निकल ही जाती थीं।

लाटू महाराज के बचपन का नाम रखतूराम था। बचपन में चेचक से प्राण संकट में पड़ जाने पर उनकी माता ने रक्षा हेतु भगवान राम से प्रार्थना की थी। बाद में स्वस्थ हो जाने पर उन्हें 'रखतूराम' नाम मिला। उनके बचपन का अधिकांश समय गाय चराने और सरल चरवाहों के साथ खेलने में बीता था। प्रकृति की उन्मुक्त गोद ही उनका विद्यालय था। माता-पिता इतने गरीब थे कि दोनों समय का पूरा भोजन तक नहीं जुटा पाते थे। अति श्रम के कारण, पाँच वर्ष के रखतूराम को अनाथ छोड़कर दोनों अकाल ही दिवंगत हुए। नि:सन्तान चाचा ने उनका भार लिया। उनके घर रखतूराम थोड़े सुखपूर्वक ही रहे। पर चाचा का भी भाग्य पलटा और आजीविका हेतु उन्हें रखतूराम को साथ लेकर कलकत्ते जाना पड़ा। गाँव से विदा लेते हुए बालक का कोमल हृदय टूट-सा गया।

कलकत्ते में रामबाबू की नौकरी

कलकत्ते में चाचा ने रखतूराम को बाबू रामचन्द्र दत्त के परिवार में नौकरी पर लगा दिया। यहाँ उसे घर के छोटे-मोटे कार्य, हाट-बाजार आदि करने पड़ते थे। रखतूराम सारे कार्य बड़ी तत्परता से करता, अत: शीघ्र ही सबका प्रिय बन गया। दुलार से उसे सभी 'लालटू' कहते, बाद में श्रीरामकृष्ण स्नेहपूर्वक उसे 'लाटू' या 'लेटो' कहकर पुकारने लगे। गृहस्वामी रामबाबू का लाटू पर अटूट विश्वास था। उनके एक मित्र के मन में सन्देह था कि लाटू पैसे चुराता है। एक दिन वे व्यंग्यपूर्वक सीधे पूछ बैठे, "क्यों रे छोकरे, सच बोल, आज कितने पैसे मारे?" लाटू तीक्ष्ण स्वर में बोल उठा, "जान लीजिए बाबू, मैं नौकर हूँ, चोर नहीं।" मित्र के शिकायत करने पर रामबाबू बोले, "देखिए, लाटू चोर नहीं है। उसे जब जो जरूरत होती है, घर में माँग लेता है।"

श्रीरामकृष्ण का दिव्य-स्पर्श

गृहस्वामी रामचन्द्र दत्त प्राय: ही अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण तथा उनके उपदेशों की चर्चा करते। "भगवान मन देखते हैं, यह नहीं देखते कि कौन क्या कर रहा है। ... जो ईश्वर के लिये व्याकुल है, उन्हें छोड़ कुछ नहीं चाहता, वे उसी के समक्ष प्रकट होते हैं। ... एकान्त में प्रार्थना करनी चाहिए, उनके लिए रोने पर उनकी दया होती है।" इन ज्वलन्त उक्तियों ने सरल बालक लाटू के हृदय में साधना की अग्नि प्रज्वलित कर दी। प्राय: देखने में आता कि दोपहर में वह एक कम्बल ओढ़कर लेटा हुआ है। बीच-बीच में उसकी आँखें डबडबा उठतीं। लोग सोचते कि इसे चाचा की याद आ रही है, पर भला कौन जानता था कि लाटू का मन उन्हीं युगाराध्य श्रीरामकृष्ण के दर्शन हेतु आकुल है!

लाटू अवसर देखते रहे। एक रविवार, उनके अनुरोध पर रामबाबू उन्हें दक्षिणेश्वर ले गये। लाटू को बरामदे में खड़े देखकर ठाकुर ने पूछा, "राम, यह लड़का कहाँ मिला? इसमें तो साधु के लक्षण दीख रहे हैं।" लाटू के अन्तर में आवाज उठने लगी – "ये ही तो मेरे चिरकाम्य देवता हैं।" कमरे में प्रविष्ट होकर उन्होंने ठाकुर के चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़े-खड़े श्रीवाणी सुनते रहे – "नित्य-सिद्ध जीवों को प्रत्येक जन्म में ज्ञान रहता है। वे मानो पत्थर से दबे हुए फौवारे हैं। मिस्त्री इधर-उधर खोदते हुए ज्योंही एक पत्थर हटा देता है, त्योंही फव्वारे के मुँह से झर-झर पानी निकलने लगता है।" इतना कहकर ठाकुर ने लाटू को छू दिया। लाटू रोमांचित हो उठे, उनके दोनों ओंठ काँपने लगे, आँखों से अश्रुधार बह चली और चेतना लुप्त हो गयी। बड़ी देर बाद ठाकुर के पुन: स्पर्श करने पर लाटू का बाह्य ज्ञान लौटा। अपने लीला-सहचर को पहचानकर उन्होंने रामबाबू से कहा, "इसे बीच-बीच में यहाँ भेजना।"

रामबाबू के घर एक दिन ठाकुर के पास कोई वस्तु भेजने की बात उठी। लाटू ने कहा, "मुझे दीजिए, मैं सब पहुँचा दूँगा।" लाटू फल-मिठाइयाँ लेकर अकेले दक्षिणेश्वर पहुँचे। उद्यान में ही ठाकुर के दर्शन पाकर उन्होंने वहीं उनके चरणों में लम्बा प्रणाम किया। फिर दोपहर को माँ-काली की भोग-आरती देखने के बाद ठाकुर के पास ही बैठकर प्रसाद पाया। पूरा दिन दक्षिणेश्वर में ही बिताकर वे शाम को लौटे।

अब लाटू का मन घर के काम-काज में नहीं लगता। उनकी दक्षिणेश्वर में ही रहने की तीव्र इच्छा थी, पर चिकित्सक ने ठाकुर को वायु-परिवर्तन हेतु गाँव जाने की सलाह दी थी। जाने के पूर्व वे लाटू को मालिक के घर में अनासक्त भाव से रहने को कह गये। तथापि अधीर लाटू दक्षिणेश्वर चले जाते, पर सब सूना-सूना लगता। वे वहाँ घूमते-फिरते, गंगातट पर बैठकर रोते और चुपचाप पंचवटी में बैठे रहते। परिचित लोग भी उनका दुख नहीं समझते, सोचते – रामबाबू ने डाँटा होगा, इसीलिए बालक दुखी होकर यहाँ चला आया है। एक दिन संध्या को रामलाल-दादा लाटू को प्रसाद देने गंगा-तट पर आये। उन्होंने देखा कि लाटू किसी को प्रणाम कर रहा है। प्रणाम के बाद सिर उठाकर लाटू ने उन्हें देखा और पूछा, ''परमहंसदेव कहाँ चले गये?'' 'परमहंसदेव !' रामलाल दादा मौन सोचने लगे, 'इसका सिर तो नहीं फिर गया है?' लाटू ने उन्हें समझाया कि ठाकुर दक्षिणेश्वर में नित्य-निवास करते हैं – यहाँ उनके दर्शन मिल जाते हैं।

गुरुदेव की सेवा, सान्निध्य और शिक्षा

आठ महीने बाद ठाकुर दक्षिणेश्वर लौटे। एक दिन संध्या को लाटू के आने पर ठाकुर ने स्नेहपूर्वक उन्हें वहीं रह जाने को कहा। रात में भोजन के बाद उन्हें ठाकुर की चरण-सेवा करने का सौभाग्य मिला। दिव्य स्पर्श के फलस्वरूप पहले तो लाटू के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा, फिर वे नि:स्तब्ध हो एकटक देखते हुए बैठे रहे। अगले दिन दोपहर तक उनकी ध्यान-तन्मयता दूर नहीं हुई। मन्दिर में भोग का घण्टा बजने के बाद ठाकुर के पुकारने पर उन्हें जगत् का भान हुआ और उन्होंने मन्दिर में प्रणाम करके स्नान-भोजन आदि किया।

हृदयराम के दक्षिणेश्वर से चले जाने पर सेवक के अभाव में ठाकुर को बड़ी असुविधा हो रही थी। एक दिन उन्होंने रामबाबू से कहा, ''इस लड़के को तुम मेरे पास रख दो; बड़ा शुद्ध-सत्त्व है और यहाँ रहना इसे पसन्द भी है।'' तब से लाटू दक्षिणेश्वर में ही रहने लगे। ठाकुर ने उन्हें केवल सेवक के रूप में ही नहीं लिया था; उनका पूरा भार ग्रहण किया था। वे उन्हें अक्षर-ज्ञान से लेकर धर्मविज्ञान तक सिखाते और उन्हें 'भगवान का नशा करना' भी सिखाया था।

लाटू में कई बातें बड़ी विचित्र थीं। दक्षिणेश्वर रहते समय सुबह नींद खुलने पर वे सर्वप्रथम ठाकुर का ही दर्शन करते थे। उस समय ठाकुर यदि अपने कमरे में न होते, तो वे किसी दूसरे को पहले देख लेने के भय से आँखें मूँदे हुए ही पुकारा करते थे, ''आप किधर चले गये?'' अन्त में ठाकुर को आना पड़ता, तभी वे आँखें खोलते।

दक्षिणेश्वर में एक दिन किसी भक्त के असभ्यता दिखाने पर लाटू ने उन्हें खरी-खोटी सुना दी। ठाकुर बोले, ''यहाँ जो लोग आते हैं, उन्हें ऐसी कठोर बातें नहीं कहनी चाहिए। एक तो वे ऐसे ही संसार की ज्वाला में जल-भुन रहे हैं, फिर यहाँ भी यदि तू उनकी भूलों पर इतनी कठोर बातें कहकर दुख देगा, तो बोल, वे और कहाँ जाएँगे?''

माँ श्रीसारदा देवी की सेवा में

दक्षिणेश्वर में माताजी का जीवन बड़ा एकाकी था। भक्तों के भोजन आदि के लिए उन्हें बड़ा परिश्रम भी करना पड़ता। एक दिन लाटू को चुपचाप गंगातट पर बैठे देख ठाकुर बोले, ''अरे लेटो, तू यहाँ बैठा है और उन्हें नौबतखाने में रोटी बेलने के लिए कोई नहीं मिल रहा है।'' फिर उन्हें माताजी के पास ले जाकर कहा, ''यह लड़का बड़ा शुद्ध-सत्त्व है। जब जो भी जरूरत हो, इसे कहना, कर देगा।'' तब से लाटू सानन्द माताजी की सेवा में लग गये।

आहार और निद्रा का संयम

एक दिन ठाकुर किसी को भोजन के बारे में सावधान कर रहे थे। सुनकर लाटू भी अपना खाना घटाने लगे। इससे शुरू में उन्हें बड़ा कष्ट हुआ और शरीर दुर्बल हो गया। श्रीरामकृष्ण का इस ओर ध्यान जाने पर वे कुछ दिनों तक लाटू को अपने पास बैठाकर खिलाते और स्वयं ही उनकी थाली में घी परोस देते। तब से लाटू ने मध्यमार्ग अपनाया।

ठाकुर ने उन्हें सिखाया था – ''योग-याग में जगे रहना, सोते समय प्रभु को पुकारना, काम के बीच में उन्हें पकड़ना और सदा उनकी सेवा में लगे रहना।'' एक दिन लाटू थककर संध्या को ही सो गये। ठाकुर ने उन्हें जगाते हुए चेताया – ''कहाँ तो संध्या के समय भगवान को पुकारेगा और तू पड़ा-पड़ा सो रहा है।'' लाटू बड़े लज्जित हुए और प्रतिज्ञा की – ''मैं फिर कभी संध्या को नहीं सोऊँगा।'' बाद में ठाकुर की कृपा से लाटू निद्राजित् हो गये थे। बाद में वे प्राय: पूरी रात ध्यान में बिताते, केवल दिन में थोड़ा-सा विश्राम कर लेते।

ध्यान-तन्मयता और आध्यात्मिक अनुभूतियाँ

एक दिन ब्राह्ममुहूर्त में ठाकुर सबको अपने कमरे में ध्यान करने बैठाकर गाने लगे – ''जागो माँ, कुल-कुण्डलिनी.. ।'' लाटू सहसा – 'उँहूँ' कहकर चिल्ला उठे। वे आसन पर स्थिर नहीं रह पा रहे थे; शीघ्र ही भावावस्था में बाह्य-चेतना खो बैठे। एक अन्य दिन ठाकुर ने उन्हें शिव-मन्दिर में ध्यान करने भेजा। वहाँ बैठकर थोड़ी ही देर में उनका मन कालातीत अवस्था में पहुँच गया। तीसरे पहर भी उनकी चेतना न लौटी। संवाद पाकर ठाकुर मन्दिर में आकर उन्हें पंखा झलने लगे। शीतल वायु के स्पर्श से धीरे-धीरे लाटू के शरीर में कम्पन हुआ और उनकी चेतना लौटी। उन्होंने ठाकुर को बताया कि शिव की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए उनके

सम्मुख एक ज्योति प्रकट हुई, जिससे पूरा कमरा आलोकित हो उठा – उसके बाद का उन्हें कुछ भी ज्ञात नहीं। ठाकुर बोले, "बहुत अच्छा, और भी बहुत देखेगा !"

उन दिनों लाटू रात भर ध्यान में ही बिताते थे और दिन में भी उसका आवेश चलता रहता था।

ठाकुर गले के रोग से पीड़ित होकर चिकित्सा के लिये श्यामपुकुर आये। साथ में सेवक लाटू भी आये। वहाँ ठाकुर उन लोगों को साधना तथा मंत्र सम्बन्धी बातें सिखाया करते थे और उन्हें भावावेश भी होता था, तो भी लाटू सर्वदा ठाकुर की सेवा में ही तत्पर रहते थे। बाद में उन्होंने कहा, "उनकी सेवा ही तो हमारी उपासना है !" काशीपुर में भी लाटू सेवा-साधना में डूबे रहते थे। एक दिन ठाकुर का सिर सहलाते हुए उनका हाथ रुक गया, देह स्थिर हो गयी और नेत्र ठहर गये ! उन्होंने बताया था – "तभी मेरे सामने 'वह' जगत् खुलकर प्रकट हो गया। जो दिखा, उसे आँखें धारण न कर सकीं, जो स्वाद मिला उसे जिह्वा चख न सकी।"

वराहनगर के मठ में

ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् वराहनगर मठ स्थापित होने पर वे वहीं चले आये। वहाँ संन्यास ग्रहण करने के बाद उनका नाम 'अद्‌भुतानन्द' हुआ। इसके बाद डेढ़ वर्ष वे वराहनगर में कठोर तपस्या में मग्न रहे। उनके वराहनगर-जीवन के बारे में सारदानन्दजी ने कहा था – "लाटू रात में सोता नहीं है। रात के प्रारम्भ में वह नींद का बहाना करते हुए खर्राटे भरता है और फिर सबके सो जाने पर माला लेकर जप करने बैठ जाता है।" इसके रहस्योद्‌घाटन का विवरण बड़ा मनोरंजक है। एक रात खट-खट की ध्वनि सुनकर सारदानन्दजी को लगा कि चूहा घुस आया है। उनके घुड़कने पर वह ध्वनि बन्द हो गयी। पर थोड़ी ही देर बाद फिर वही खट-खट। कई बार वैसे ही घुड़कने और आवाज बन्द हो जाने पर सारदानन्दजी के मन में शंका हुई। अत: रहस्य का पता लगाने के लिए अगली रात उन्होंने लालटेन आदि रख लिया और ज्योंही आवाज हुई, उन्होंने लालटेन जलाया। उन्होंने देखा कि लाटू जप में लगे हैं और उन्हीं की फिरती हुई माला से ऐसी ध्वनि हो रही है।

१८९२ ई. में मठ आलमबाजार में स्थानान्तरित हुआ। लाटू महाराज बीच-बीच में वहाँ जाते, पर निवास प्राय: गंगातट पर ही करते। तब वे 'स्थितप्रज्ञ' की अवस्था में थे, जगत् में किसी के भी साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, किसी भी विषय में राग-द्वेष नहीं था, किसी चीज के लिए लोभ-मोह नहीं था, उनके मुख से न कोई अभिशाप निकलता और न आशीर्वाद। उन दिनों वे मन को उच्च जगत् में रखकर केवल पूर्व-संस्कारवश लौकिक आहार-विहार करते थे।

इन दिनों वे प्राय: भिक्षा में प्राप्त पैसों से मुरमुरे या चने खरीदकर उसी से भूख मिटा लेते। वे भोजन आदि के बारे में स्वच्छन्द-वृत्ति से चलते हुए ध्यान-भजन में डूबे रहते या फिर गंगातट पर अन्य लोगों के साथ बैठे भागवत-कथा आदि सुना करते। उनके ध्यान आदि का कोई स्थान-काल नियत न था। वे कभी गंगा किनारे, कभी पुल के नीचे, तो कभी किसी नाव में बैठे ईश-चिन्तन में मग्न रहते।

१८९५ में वे पुरी-भुवनेश्वर गये थे। वहाँ वे जगन्नाथजी के समक्ष खड़े होकर प्रार्थना करते – "आपका जो रूप देखकर चैतन्यदेव के नेत्रों से जलधारा बह निकलती थी, दया करके मुझे भी एक बार अपना वही रूप दिखाइए।" उनकी यह प्रार्थना पूर्ण हुई थी। पुरी से विदा लेते हुए उन्होंने जगन्नाथजी से दो वर माँगे – "ज्यादा घूमना-फिरना न पड़े और जो भी खाऊँ, पच जाये।" उन्होंने द्वितीय वर माँगने का कारण बताया था, "भिक्षा में कब क्या मिले, इसका कोई भरोसा तो है नहीं ! और पाचन ठीक न रहने पर स्वास्थ्य टूट जाता है और साधन-भजन में मन नहीं लगता।"

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण

१८९७ ई में जब स्वामीजी उत्तर भारत के दौरे पर गये, तो अद्‌भुतानन्द जी को भी साथ ले गये। काश्मीर-भ्रमण के बाद खेतड़ी पहुँचकर स्वामीजी राजप्रासाद में अतिथि हुए। वहाँ अद्‌भुतानन्दजी राजा का अन्न नहीं खाना चाहते थे, अत: चुपचाप बाहर जाकर खा आते थे। स्वामीजी के साथ जयपुर तक भ्रमण करके वे कलकत्ते लौट आये।

निर्धनों-मजदूरों के बीच

१८९९ ई. में स्वामीजी जब दूसरी बार विदेश गये, तो लाटू महाराज बीडन स्ट्रीट में स्थित 'वसुमती'-प्रेस में चले गये। उन दिनों वे समाज के निम्न स्तर के अनेक लोगों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े थे। बाद में किसी ने पूछा, "उन चरित्रहीन लोगों के साथ आप मेल-जोल क्यों रखते थे?" वे बोले, "पर उन लोगों में छल-कपट तो नहीं था।" मूल्यांकन का यह कैसा अद्‌भुत मापदण्ड है ! उन दिनों वे बस दो-तीन कप चाय और साथ में उबले हुए चने लिया करते थे।

शास्त्रों की अनुभूति

लाटू महाराज निरक्षर थे, तथापि शास्त्र-वाणी उनके लिये आन्तरिक अनुभूति का विषय था। एक दिन स्वामी शुद्धानन्द (सुधीर महाराज) के साथ वे उपनिषद्-व्याख्या सुनने गये। पण्डितजी ने जब कठोपनिषद् के एक श्लोक का पाठ करके अर्थ बताया, तो लाटू महाराज ने उसका अपनी अनुभूति के साथ सामंजस्य पाकर निकट बैठे शुद्धानन्द से उत्साहपूर्वक कहा, "सुधीर ! पण्डित ठीक ही कहता है, पण्डित ठीक ही कहता है !" स्वामी शुद्धानन्द उन दिनों उनके साथ एक ही

कमरे में रहते। रात में कभी-कभी वे सहसा आदेश देते, "सुधीर ! सुधीर ! गीता-पाठ करो।" शुद्धानन्द आनन्दपूर्वक वैसा ही करते थे।

लाटू महाराज की उदारता

१९०२ से १९१२ तक लाटू महाराज प्राय: बलराम-मन्दिर में ही रहे। वहाँ रहते समय उनके अनेक सद्‌गुणों में सहनशीलता विशेष रूप से प्रकट हुई थी। एक बार एक शराबी उन्हें खूब बुरा-भला बकने लगा। भक्त लोग उसे दण्ड देने को अग्रसर हुए, पर महाराज ने मना करते हुए कहा, "देखो, वह तो शराब पीकर मतवाला हुआ गाली-गलौज कर रहा है, पर तुम लोग बिना शराब पिये ही वैसा आचरण कर रहे हो ! बताओ, दण्ड किसे देना चाहिए? तुम भला उसे क्या मारोगे? शराब ने ही तो उसे मार रखा है।"

धर्ममत के बारे में लाटू महाराज बड़े ही उदार थे। मुसलमानों के ईद और मुहर्रम पर्व के उपलक्ष्य में वे पीर की दरगाह में चढ़ावा भिजवा देते थे; क्रिसमस और गुडफ्रायडे के दिन अपने ही हाथों ईसा-मसीह को नैवेद्य अर्पित करते या माला चढ़ाया करते थे।

काशी में अन्तिम पर्व

कुछ दुखद घटनाओं के कारण महाराज का मन कलकत्ते से बिलकुल उचट गया, अत: वे वाराणसी गये। वहाँ पहले वे अद्वैताश्रम में ठहरे, फिर स्थानाभाव देखकर पाण्डे-हवेली मुहल्ले में एक किराये के मकान में, करीब चार वर्ष बाद हाड़ार-बाग के किराये के मकान में गये और अन्त तक वहीं रहे। एक बार हरि महाराज ने उन्हें अल्मोड़ा आने के लिए सप्रेम आमंत्रित किया। पर लाटू महाराज बोले, "जीवों के दुख से व्यथित होकर यहाँ विश्वनाथ-अन्नपूर्णा विराज रहे हैं। इन्हें छोड़कर मैं कहीं भी नहीं जाऊँगा।"

पाण्डे-हवेली के मकान में वे जप-ध्यान में इतने तन्मय रहते कि उनके भोजन आदि का कोई निश्चित समय नहीं रहता था। तपस्या की इस कठोरता के विषय में यदि कोई पूछता, तो वे कहते, "अरे, हम लोग क्या कर रहे हैं ! तपस्या तो की थी दस्यु रत्नाकर (महर्षि वाल्मीकि) ने ! संस्कार के दाग मानो पत्थर की लकीर हैं – आसानी से नहीं मिटते। कर्म किये बिना ही क्या कृपा होती है?"

काशी में उनकी आश्रित-वत्सलता के कई रूप देखने को मिले। एक बार किसी असाध्य रोग से ग्रस्त एक निर्धन युवक को उनके पाण्डे-हवेली के मकान में आश्रय मिला और उन्हीं के निर्देशानुसार विश्वनाथ की पूजा तथा चरणामृत पान करते हुए वह नीरोग हो गया। एक महिला अपने पति से झगड़कर तीर्थयात्रा को चलीं। काशी पहुँचकर जब वे अपने सम्बन्धियों के साथ लाटू महाराज को प्रणाम करने आयीं, तो उन्होंने पाया कि महाराज यह गोपनीय बात पहले से ही जानते हैं। उनके प्रणाम के बाद ही महाराज बोले, "महिलाओं को पति का कहना मानकर चलना चाहिए। जो नहीं मानतीं, उनकी गृहस्थी में खटपट लगी रहती है।" साथ आयीं दो विधवाओं ने उनके चरणों में दो रुपये रखकर प्रणाम किया; पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया, बोले, "संन्यासी को गरीब या विधवाओं के पैसे नहीं लेने चाहिए।"

निरक्षर लाटू महाराज के मुख से धर्मचर्चा का जो सतत प्रवाह प्रकट होता रहता, उसे सुनने को अनेक शिक्षित लोग भी मंत्रमुग्ध-से घण्टों उनके समीप बैठे रहते। अन्तिम दिनों में उनके शरीर में मधुमेह रोग हुआ। इसके फलस्वरूप उनके पाँव में एक फोड़ा हुआ, जो समुचित उपचार के अभाव में एक विषैले व्रण (गांगरीन) में परिणत हुआ। इसकी चिकित्सा के लिए अन्तिम चार दिन नित्य ही उनके शरीर पर कई बार शल्य-क्रिया होती; पर उनकी तितिक्षा अपूर्व थी – देखकर लगता मानो उन्हें जरा भी पीड़ाबोध नहीं हो रहा है। पर इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। २४ अप्रैल १९२० ई. को उन्होंने महासमाधि में देहत्याग किया। ❑❑❑

'पक्का मैं' और 'कच्चा मैं'

'मैं' दो तरह का होता है – एक है 'पक्का मैं' और दूसरा 'कच्चा मैं'। 'यह मेरा मकान है', 'यह मेरा लड़का है', 'यह मेरी पत्नी है', 'यह मेरा शरीर है' – यह सब 'कच्चा मैं' है। ... वह है जो कहता है, "क्या ! वे मुझे नहीं जानते? मेरे इतने रुपए हैं ! मेरे इतना बड़ा आदमी कौन है? मेरी बराबरी करे इतनी हिम्मत किसमें है?' और 'पक्का मैं' है – 'जो कुछ मैं देखता, सुनता या महसूस करता हूँ, उसमें कुछ भी मेरा नहीं है, यहाँ तक कि यह शरीर भी मेरा नहीं है।' 'मैं नित्य मुक्त हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ।' 'मैं प्रभु का दास हूँ" – यही सच्चे 'भक्त का मैं' है – 'विद्या का मैं' है; इसे 'पक्का मैं' कहा जाता है।

– *श्रीरामकृष्ण*

माँ के सान्निध्य में

स्वामी स्वस्वरूपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(स्वामी स्वस्वरूपानन्द – आशु महाराज का जन्म १८८६ ई. में हुआ था। बाँकुड़ा के विभूति घोष के प्रोत्साहन तथा सहयोग से वे माँ का दर्शन करने जयरामबाटी गये। १९१४ ई. में उन्होंने माँ से दीक्षा ली, १९१७ में वे बाँकुड़ा के रामकृष्ण सेवाश्रम में सम्मिलित हुए और १९२३ में स्वामी सारदानन्द से संन्यास ग्रहण किया। माँ जयरामबाटी से कलकत्ता आते-जाते विष्णुपुर के सुरेश्वर सेन के मकान में ठहरती थीं। आशु महाराज प्राय: ही वहाँ माँ का दर्शन करने जाते। १९५८ ई. के १९ अगस्त को उनका देहत्याग हुआ।)

सम्भवत: १९१३ की बात है। विभूति घोष और बैकुण्ठ डॉक्टर से माँ की बातें सुनकर मुझे लगने लगा कि एक बार जयरामबाटी जाने से कैसा रहेगा? विभूति बाबू से जयरामबाटी जाने का रास्ता जान कर मैं एक दिन बड़े सबेरे अकेला ही निकल पड़ा। साथ में राजेन दत्त के भी जाने की बात थी। परन्तु किसी कारणवश उनका जाना नहीं हो सका। मुझे लगा कि मैं अकेला ही क्यों न जाऊँ ! विष्णुपुर से सीधा पैदल चलने लगा। बरसात का समय था। जब मैं आँधी-वर्षा के बीच जयरामबाटी पहुँचा, तो दोपहर बीतकर शाम हो रही थी। लोगों से पूछता-पूछता माँ के मकान के समीप पहुँचकर मैंने देखा कि एक वयस्क महिला एक हाथ में कुछ धुले बरतन और दूसरे हाथ में एक गिलास पानी लेकर खड़ी हैं। मैंने सोचा कि उन्हीं से पूछूँगा कि माँ का मकान कहाँ है? मुझे पूछने का मौका दिये बिना ही वे महिला मेरे थके और मुरझाये चेहरे को देखकर बोल उठीं, "आओ बेटा, आँधी-पानी से बहुत कष्ट हुआ है न?"

उनके स्नेहपूर्ण कण्ठस्वर को सुनते ही मुझे पूछने का कोई अवसर ही नहीं मिला। लगा – अवश्य ये ही माँ हैं। मैंने तुरन्त उनके चरणों में दण्डवत प्रणाम किया। बैठकखाना दिखाकर वे बोलीं, "बेटा, थोड़ा सुस्ता लो। मैं आती हूँ।"

मैं बैठकखाने में ताड़ के पत्ते की चटाई के आसन पर बैठकर थोड़ा सुस्ताने लगा। थोड़ी देर बाद माँ स्वयं ही एक तश्तरी में कुछ मुरमुरे, नारियल के दो लड्डू और पानी के गिलास को मेरे सामने रखकर बोली, "इसे खा लो बेटा !"

काफी दूर पैदल चलने के कारण मुझे बहुत प्यास लगी हुई थी। माँ के हाथों में पानी का गिलास देखते ही मुझे लगा था कि उनसे माँगकर पी लूँ। परन्तु संकोच के कारण नहीं माँग सका था। बाद में जब माँ मेरे लिए वही गिलास ले आईं, तब मैं बहुत आनन्दित हुआ था। मुझे लगा – मैंने तो किसी को बताया नहीं था कि मैं प्यासा जयरामबाटी पहुँचूँगा। अस्तु, सोचा कि माँ जब जगदम्बा ही हैं, तब तो वे सब कुछ जान सकती हैं।

वे मेरी ओर देखकर बोलीं, "बेटा, कहाँ से आ रहे हो?"

मैंने कहा, "बाँकुड़ा से।"

माँ ने कहा – "विभूति, बैकुण्ठ आदि सब ठीक से हैं न?

मैंने बताया, "हाँ, माँ ! परन्तु अपने यहाँ आने की बात मैंने उन लोगों से नहीं कही। उन लोगों ने मुझसे कई बार यहाँ आने को कहा था। कई दिनों से मैं रात को स्वप्न देखता हूँ कि मैं जयरामबाटी जा रहा हूँ। रास्ता लम्बा है – पैदल ही चला जा रहा हूँ, चला जा रहा हूँ। फिर कहीं एक मैदान में आकर भटक जाता हूँ और रास्ता ही नहीं ढूंढ़ पा रहा हूँ। तभी नींद खुल जाती है। फिर किसी दिन देखता हूँ कि पैदल चलते-चलते जयपुर के जंगल में आ पहुँचा। सामने ही एक बड़ा भालू खड़ा है। मैं दौड़ना शुरू करता हूँ। दौड़ते-दौड़ते मैं गिर जाता हूँ और नींद खुल जाती है। प्राय: इस प्रकार स्वप्न देखते रहने से मैंने सोचा कि सम्भवत: माँ ही मुझे दर्शन देने हेतु इस प्रकार के स्वप्न दिखा रही हैं। अत: किसी को बिना कुछ बताये ही चला आया।"

सब सुनकर माँ बोलीं, "ठीक ही किया, बेटा। मुझे भी आज लग रहा था कि कोई आ रहा है। अब शाम हो गयी है, इस समय निकलने से घर पहुँचते-पहुँचते बहुत रात हो जायेगी। बेटा, आज यही रुक जाओ।"

माँ के कहने पर उस रात मैं जयरामबाटी में ठहर गया। बाद में माँ ने पूछा – नाम क्या है? कितने भाई हैं? क्या करता हूँ? मेरा घर बैकुण्ठ डॉक्टर और विभूति घोष के घर से कितना दूर है? मैंने सब बताया। माँ बीच-बीच में कहतीं, "बेटा, ठाकुर का स्मरण करना। सारी विघ्न-बाधा दूर हो जायेगी।"

इसके बाद मैंने कई बार माँ के पास आना-जाना किया है। कभी कोयालपाड़ा में, कभी सुरेश्वर सेन के मकान में,

कभी जयरामबाटी में। हम लोगों की माँ दया की प्रतिमूर्ति थीं। हमारा जरा-सा भी कष्ट वे सहन नहीं कर पाती थीं।

मैं हमेशा से जरा अस्त-व्यस्त स्वभाव का था। कोई हिसाब-किताब नहीं रखता था। दीक्षा लेनी चाहिये या लेने की जरूरत है – इसका बोध भी मुझे तब तक नहीं था। उस वर्ष दुर्गापूजा के समय बैकुण्ठ डॉक्टर ने बताया कि वे जयरामबाटी जायेंगे। उन्होंने पूछा कि मैं जाऊँगा या नहीं। वे सप्तमी के दिन जानेवाले थे। सुनते ही मैं राजी हो गया। दुर्गापूजा के समय मैं जयरामबाटी पहुँचा। सुना कि महाष्टमी के दिन दीक्षा होगी। अनेक भक्त आये हैं। वे लोग दीक्षा के लिए तैयार हो रहे हैं। पूजा चल रही थी। पुष्पांजलि देने के लिए मैंने उपवास कर रखा था। मुझे लगने लगा कि मैं भी तो दीक्षा ले सकता हूँ। फिर मन में आया – नहीं, माँ यदि स्वयं ही मुझसे दीक्षा लेने के लिए कहें, तभी दीक्षा लूँगा, अन्यथा नहीं। मैं पूजा के विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहा। दिन के नौ-दस बजे होंगे। माँ ने मुझे बुलाकर कहा, "बेटा आशू, तुम जल्दी से नहाकर आ जाओ।" माँ की बात सुनकर मेरी आँखों में आँसू भर आये। मैं शीघ्रतापूर्वक तालाब में नहाकर चला आया। माँ ने ही सारी व्यवस्था कर रखी थी। माँ की कृपा से ही उस शुभ महाष्टमी के दिन मेरी दीक्षा हो गई।

इसके कई वर्ष बाद डॉक्टर महाराज ने संन्यास लिया। मेरा संन्यास लेना नहीं हुआ। डॉक्टर महाराज, कमल महाराज और मैं – तीनों घर छोड़कर मठ तथा ठाकुर-माँ-स्वामीजी को लेकर पड़े हुए थे। सहसा मेरे मन में आया – माँ ही तो सब हैं; उनसे संन्यास लेने में क्या हर्ज है? मेरे मन में ज्योंही यह बात उठी, उसके अगले दिन ही जयरामबाटी चल पड़ा। शाम होते-होते मैं वहाँ जा पहुँचा और माँ को प्रणाम करके बोला, "मुझे संन्यास दीजिए।" माँ ने कहा, "मैं तो संन्यास देती नहीं। तुम मठ में जाओ। वहाँ जाकर राखाल महाराज से संन्यास ले लो।" मैं जिद कर बैठा, "माँ, आप ही मुझे संन्यास दीजिए।" माँ जितना ही कहतीं – मठ जाओ, मठ में लेना, उतनी ही मेरी जिद बढ़ती गई। तब अपने गले का जनेऊ तोड़कर माँ के समक्ष रखता हुआ मैं बोला, "मेरा धर्म-कर्म सब नष्ट हो जाय। या तो आप मुझे संन्यास दीजिए – नहीं तो मेरा सर्वनाश हो जाय।" इतना कहकर मैं माँ के चरणों में गिरकर आर्तनाद करने गया। माँ ने हाथ से मेरा सिर सहलाते हुये कहा, "पगले लड़के ! उठो बेटा !" उसके बाद रात में जागकर माँ ने स्वयं ही रंगकर मुझे गेरुआ दिया और बोलीं, "बेटा, बेलूड़ मठ जाकर राखाल से विरजा होम करवा लेना।" माँ का दिया आशीर्वादी गेरुआ पाकर सिर से लगाते हुए मुझे लगा – मेरा जीवन सार्थक हो गया है ! मैं धन्य हो गया हूँ ! इसके कई वर्ष बाद १९२३ ई. में शरत् महाराज से मेरी आनुष्ठानिक रूप से संन्यास-दीक्षा हुई थी।

माँ का आकर्षण

स्वामी अविनाशानन्द

मैंने पढ़ा था –

मनसि वचसि काये पुण्य-पीयूष-पूर्णाः
त्रिभुवनमूपकार-श्रेणीभिः प्रीयमाणाः ।
परगुण-परमाणुं पर्वतीकृत्य केचित्
निज-हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।।

– जिनका मन-वाणी तथा देह पुण्य अमृत से परिपूर्ण है; विविध उपकारों के द्वारा त्रिभुवन को सुख देना ही जिनका स्वभाव है, दूसरों के बिन्दु-मात्र गुण को भी पर्वत के समान देखकर जिन्होंने अपने हृदय को विकसित किया है, ऐसे भी कुछ साधु पृथ्वी पर देखने को मिलते हैं।

इस श्लोक के भाव को मैंने माँ के जीवन में अक्षरशः सत्य पाया है। उनकी बातें तथा व्यवहार – सब कुछ कैसा मधुर था ! उनके हर कार्य में कल्याण विकिरित होता था। मुझे एक आँखों-देखी घटना याद आ रही है। १९१९ ई. की बात है। माँ जयरामबाटी में बुखार से ग्रस्त थीं। राधू का बच्चा जोरों से रो रहा था। राधू की पगली माँ चुल्हे से एक लम्बी जलती हुई लकड़ी लेकर माँ को मारने दौड़ी। गाँव की कुछ वृद्धा महिलाएँ किसी आपसी झगड़े में माँ की सलाह लेने आयी थीं। इस पर राधू माँ पर खूब नाराज होकर जोरों से चिल्लाने और कहने लगी, "तुम्हीं इन लोगों को बढ़ावा दे रही हो।" लेकिन माँ शान्त रहीं। राधू से केवल इतना ही कहती रहीं, "मीठी बात कहो, मीठी बात कहो।"

मैं मानो अब भी माँ की उस अमृतमयी वाणी को स्पष्ट सुन पा रहा हूँ – "मीठी बात कहो !" दुनिया के सैकड़ों लोग जिसके बारे में पक्की धारणा किये रहते कि यह व्यक्ति बहुत बुरा है, अदोषदर्शिनी माँ उसे दोषी नहीं मानतीं – उसके कल्याण की चिन्ता करती हैं, उसे सुधारने की चेष्टा करती हैं। केवल एक-दो मामलों में नहीं – अनगिनत उदाहरण मिलेंगे।

शंकराचार्य ने अपने माँ-अन्नपूर्णा के स्तोत्र में लिखा है –

नित्यानन्दकरी वराभयकरी सौन्दर्य-रत्नाकरी
निर्धूताखिल-घोर-पावनकरी प्रत्यक्ष-माहेश्वरी ।।

– जो सर्वदा आनन्ददायिनी हैं, जो वर तथा अभय प्रदान करनेवाली हैं, सौन्दर्य की समुद्र हैं, समस्त पापों को धोकर पवित्र करनेवाली हैं और साक्षात् माहेश्वरी अर्थात् पार्वती हैं।

मानो यह माँ की ही छबि का वर्णन हो। उनके पास जो भी आया, एक अभूतपूर्व आनन्द लेकर लौटा। वे अद्‌भुत हृदय-मनोहारिणी स्निग्ध शान्त आत्मिक सौन्दर्य की महासमुद्र थीं – सबकी घनीभूत मलिनता, अति घोर पाप भी धो-पोंछकर सबको निर्मल कर देती थीं, तभी तो वे देवी हैं, प्रत्यक्ष माहेश्वरी हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

कर्मयोग की साधना (८)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – "किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।" भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तक के रूप में हुआ। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

२१. कर्म : आज के सन्दर्भ में

अब हम आधुनिक मानव के जीवन में कर्म के स्थान तथा महत्त्व के विषय में विचार करेंगे। जनसंख्या की वृद्धि, औद्योगीकरण तथा नागरीकरण और सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तनों ने आधुनिक मानव के लिये कर्म को एक अपरिहार्य आवश्यकता बना दिया है। विज्ञान तथा मुक्त चिन्तन ने मनुष्य की स्वयं के तथा जगत् के विषय में धारणाएँ बदल दी हैं और उसके लिये अनुभव तथा अभिव्यक्ति के लिये नयी-नयी दिशाएँ खोल दिये हैं। आधुनिक नर-नारी सर्वत्र ही आर्थिक शोषण और सामाजिक एवं धार्मिक अत्याचार से मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं। इसके साथ ही आधुनिक जीवन ने मनुष्य को उसके पूर्वजों की संस्कृति तथा धार्मिक विश्वासों से विच्छिन्न कर दिया है और उसमें असन्तोष, वर्गभेद तथा हिंसा के बीज बो दिये हैं। इस कारण उसके जीवन में, पहले के किसी भी काल से अधिक आध्यात्मिक उन्मुखता तथा परिपूर्णता की आवश्यकता प्रगट हो गयी है।

दूसरी ओर, आध्यात्मिक जीवन में भी कर्म का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। अपनी आजीविका अर्जित करने की आवश्यकता और अधिकाधिक सामाजिक चेतना तथा उत्तरदायित्व के कारण मनुष्य पूरी तौर से एकान्तवास तथा ध्यान का जीवन अंगीकार नहीं कर सकता। यदि यह सम्भव हो, तो भी वेदान्त के आचार्यों ने कर्मयोग को आध्यात्मिक जीवन का प्रथम अपरिहार्य कदम माना है। इसका कारण यह है कि कर्मयोग – प्रारम्भिक साधक को उसके उस पूर्व जीवन से निरन्तरता प्रदान करता है,[५४] जिससे उसे ऊपर उठना है और उसके अतिरिक्त ऊर्जा को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी धाराओं में प्रवाहित करके उसकी सृजनात्मक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने में सक्षम बनाता है। यदि उस ऊर्जा का दमन किया जाय, तो सम्भव है कि वे चिन्ताओं, दिवा-स्वप्न तथा चंचलता की सृष्टि करे। पर यदि उसे स्वार्थपूर्ण कार्यों में लगाया जायेगा, तो इसके फलस्वरूप इच्छाशक्ति का ह्रास होगा। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "मन की सारी बहिर्मुखी गति किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की ओर दौड़ती रहने से छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाती है; वह फिर तुम्हारे पास शक्ति को लौटाकर नहीं लाती। परन्तु यदि उसका संयम किया जाय, तो उससे शक्ति की वृद्धि होती है। इस आत्मसंयम से महान् इच्छा-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है; वह बुद्ध या ईसा जैसे चरित्र का निर्माण करता है।"[५५]

फिर जिस प्रकार एक मशीन के दोषों को जानने के लिये उसे चलाना आवश्यक है, उसी प्रकार कर्म के द्वारा भी व्यक्ति के चरित्र में छिपी हुई कामनाओं, अहंकार तथा दोषों को पहचाना और उन्हें सुधारा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कर्म के साथ कुछ दोष भी जुड़ा रहता है, जैसा कि स्वामीजी कहते हैं – "अपने भोजन का प्रत्येक ग्रास हम किसी दूसरे के मुख से छीनकर खाते हैं।"[५६] अतएव, अपने कर्मों द्वारा उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिये हमें निरन्तर दूसरों की भलाई में लगे रहना चाहिये। जीवन

५४. अधिकांश साधकों के मामले में ऐसा प्रतीत होता है कि उनके वर्तमान जीवन को मानो उनके अतीत जीवन से बलपूर्वक जोड़ दिया गया हो। इसके फलस्वरूप, यद्यपि वे अभ्यास के द्वारा नियमित रूप से साधना करते हैं तथा उसके द्वारा अपने आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध बनाने का प्रयास करते हैं, तथापि उनके दैनन्दिन सम्पर्कों के दौरान, प्राय: उनके अतीत के बुरे पहलू भी अपना कुरूप चेहरा दिखाते रहते हैं और साधक को कठिनाई तथा चिन्ता में डाल देते हैं। इसके अतिरिक्त, यह उनके व्यक्तित्व में बिखराव भी उत्पन्न करता है। यदि साधक चेतनापूर्वक कार्य करे, तो वह अपने छिपे हुए अतीत को एक खुली हुई पुस्तक के पृष्ठों की भाँति आसानी से पढ़ सकता है। इस प्रकार अपनी क्षमताओं तथा सीमाओं को जान लेने के बाद, साधक को उन्हें जोड़-तोड़ करने या बचाव करने का प्रयास छोड़कर, एक निष्पक्ष दृष्टिकोण के साथ स्वीकार कर लेना चाहिये; उसे अपने आध्यात्मिक जीवन में सहायक अपने चरित्र के उज्ज्वल पक्षों की सहायता लेनी चाहिये और बुरे पक्षों की उपेक्षा न करते हुए उन्हें अपने व्यक्तित्व के उचित प्रकोष्ट में रख लेना चाहिये। इस पद्धति के द्वारा साधक अपने अतीत जीवन के साथ निरन्तरता बनाये रख सकेगा।

५५. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र. सं., खण्ड ३, पृ. ९

५६. वही, खण्ड ३, पृ. ५८; तथा खण्ड ९, पृ. १८३ ("भोजन का प्रत्येक ग्रास हम किसी-न-किसी के मुँह से छीनकर ही खाते हैं।")

अनिश्चितताओं से परिपूर्ण है और हम देखते हैं कि हमारे स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से किये हुए कार्य भी सर्वदा हमारी आशा के अनुरूप स्वार्थपूर्ण फल नहीं उत्पन्न करते; और अन्तत: अधिकाधिक बन्धन तथा दुखों की सृष्टि करते हैं। परन्तु नि:स्वार्थ कर्म हमारे अहंकार को घटाता है और मन को शुद्ध करता है। इस प्रकार कर्मयोग साधक के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

इस प्रकार आधुनिक मनुष्य को दो समस्याओं का सामना करना पड़ता है – कर्म में आनन्द तथा सन्तोष का अनुभव; और इसे आध्यात्मिक उपलब्धि के एक साधन में रूपान्तरित करना।

व्यक्ति को अपने कर्म में तभी आनन्द मिल सकता है, जब वह उसकी सृजनात्मक प्रतिभा का एक माध्यम बन जाय। यह केवल तभी सम्भव हो सकता है, जब उसे अपना कर्म चुनने की स्वाधीनता हो। उसे इस चयन की सुविधा तभी मिल सकती है, जब हर तरह का कार्य उसे आर्थिक सुरक्षा तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दे सके। यह मार्क्सवाद का एक मूलभूत विचार है और पाश्चात्य समाजों ने इसके हानिकर सामाजिक-राजनीतिक परिणामों को नकार कर, इसे अपना करके साम्यवाद को दूर रखा है और भौतिक समृद्धि की उपलब्धि की है। परन्तु भारत जैसे अविकसित देश में, जहाँ जनसंख्या अनियंत्रित रूप से बढ़ रही हो और करोड़ों लोग चरम निर्धनता में जीवन-यापन कर रहे हों, कर्म को चुनने की स्वाधीनता असम्भव है।

तथापि, समाज की चाहे जैसी भी अवस्था हो, या व्यक्ति का कार्य चाहे जैसा भी हो, प्रत्येक व्यक्ति देर-सबेर अवश्य समझ लेगा कि आध्यात्मिक उद्देश्य के बिना किया गया जागतिक कार्य, व्यक्ति को जीवन तथा सत्य के साथ सार्थक रूप से नहीं जोड़ सकता। आज कर्म के एक ऐसे सिद्धान्त की जरूरत है, जो जागतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को जोड़ता हो और व्यक्ति के अस्तित्व के विभिन्न स्तरों पर, उसकी अन्तरात्मा की सम्भावनाओं को उन्मुक्त करते हुए, उसे क्रमश: उच्च से उच्चतर उपलब्धियों की ओर ले जाता हो। इसके लिये मनुष्य जीवन के एक ऐसे सर्वांगीण दर्शन की आवश्यकता होगी; जो जीवन की अखण्डता, आत्मा की दिव्यता, अनुभव की तारतम्यता और आध्यात्मिक उपलब्धि में कर्म की महत्ता को स्वीकार करता हो।

स्वामी विवेकानन्द ने जिस महान् कार्य का बीड़ा उठाया था, वह था प्राचीन तथा आधुनिक काल के, पूर्व तथा पश्चिम के सभी श्रेष्ठ विचारों का एक विराट् दार्शनिक समन्वय प्रस्तुत करना। वे इस दर्शन का कोई संकीर्ण नहीं, बल्कि एक मूलभूत लचीला ढाँचा दे जाना चाहते थे। क्योंकि वे जानते थे कि सत्य या परम तत्त्व मनुष्य की आत्मा से अभिन्न है और चूँकि मानव-स्वभाव अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होता है, अत: प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के अपने ही नियमों के अनुसार चलकर, अपने भीतर ही सत्य का आविष्कार करने की स्वाधीनता दी जानी चाहिये। इसीलिये उन्होंने कहा था – "मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में ही विद्यमान होता है।"[५७] दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का दर्शन ढूँढ़ निकालना होगा। या फिर, स्वामीजी के शब्दों में – "सब अपने-अपने धर्म का अनुगमन करें।"[५८]

इस दिशा में पहला कदम यह होगा कि जीवन को स्वीकार करना और इसकी शक्ति तथा रहस्य के विषय में एक खुला दृष्टिकोण रखना। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "इस संसार-यंत्र से दूर मत भागो, वरन् इसके अन्दर ही खड़े होकर कर्म का रहस्य सीख लो। भीतर रहकर कौशल से कर्म करके बाहर निकल आना सम्भव है। स्वयं इस यंत्र के माध्यम से ही बाहर निकल आने का मार्ग है।"[५९]

'कर्म तथा उसका रहस्य' विषयक अपने आलोकप्रद व्याख्यान में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिये, जितना कि उसके लक्ष्य के विषय में।"[६०]

२२. निष्कर्ष : साध्य और साधन

इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि कर्म अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं, बल्कि एक साधन मात्र है। 'कर्म के लिये कर्म' का केवल इतना ही तात्पर्य है कि कर्म को बिना किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के किया जाय। इसी में ज्ञान तथा भक्ति के साथ कर्म का पार्थक्य है। ज्ञानमार्गी दावा करते हैं कि ज्ञान केवल साधन ही नहीं, साध्य भी है। वैसे ही भक्तिमार्गी दावा करते हैं कि भक्ति साधन भी है और साध्य भी। परन्तु कर्म का लक्ष्य कर्म नहीं, बल्कि नैष्कर्म्य या कर्महीनता है, क्योंकि मुक्ति का यही तात्पर्य है। मुक्ति एक ऐसी अवस्था है, जिसमें जीवात्मा समस्त बन्धनों से मुक्त हो कर अपने वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि करती है। यद्यपि कर्म वहाँ तक पहुँचा सकता है, पर उस उपलब्धि में कर्म का कोई स्थान नहीं है। मृत्यु भले ही हमारे कर्मों को समाप्त न कर सके, परन्तु मुक्ति उन्हें समाप्त कर देती है। सभी कर्मों का एक पूर्ण विराम होना चाहिये। यहाँ तक कि 'सिसिफस के चिरन्तन श्रम' में भी कभी-न-कभी ठहराव आना ही है।

❖ **(क्रमश:)** ❖

---

५७. वही, खण्ड २, पृ. २५२; ५८. वही, खण्ड २, पृ. ३७८;
५९. वही, खण्ड ३, पृ. ८८; ६०. वही, खण्ड ९, पृ. १७५

विभाजन का विष

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

राजस्थान का उत्तर-पूर्वी हिस्सा पंजाब से मिला हुआ है। वहाँ पर देश के विभाजन के समय काफी संख्या में मुसलमान परिवार थे। हिन्दू-मुसलमानों में आपस में भाई-चारा था, एक-दूसरे के सुख-दु:ख, विवाह-शादी और त्यौहार में बड़े जतन और प्रेम से हिस्सा लेते थे।

हिन्दुओं की होली में मुसलमान डफों पर धमाल गाते थे और मुसलमानों के ताजियों में मर्सिये सुनकर हिन्दुओं की आँखों में आँसू आ जाते थे। वे भी नए-नए कपड़े पहनकर ताजियों के जुलूस में शामिल होते थे, बच्चों के रोग-निवारण के लिये उन्हें ताजियों के नीचे से निकालते थे। मुझे याद है हमारे पड़ोसी मुसलमान बच्चे हमें यह कह कर चिढ़ाते थे कि देखो हमारे ताजियों पर कितना सुन्दर गोटा-किनारी लगा है जबकि तुम्हारे हनुमानजी का मुँह बन्दर-सा है और गणेशजी का हाथी-सा। हम जब दादाजी से उनकी शिकायत करते, तो वे हमें बहलाने के लिये उन्हें झूठ-मूठ डाँट देते थे।

हमारे घर के पीछे की तरफ घासी लीलगर का छोटा-सा घर था। हम उन्हें बराबर घासी भैया कहकर पुकारते थे। वे लोग भी दादीजी को माँजी कहते। उनके यहाँ जमाई आता, तो दादीजी दरी-गद्दा और निवार के पलंग भेज देती। उस समय यद्यपि बाहर से छुआछूत थी, पर दिलों में प्यार था।

१९४७ ई. के शुरुआत की बात है। देश-विभाजन की चर्चा अन्तिम दौर में थी। अंग्रेजी सरकार ने भारत और पाकिस्तान – दो अलग-अलग मुल्क बनाकर उन्हें शासन सौंपने का मसौदा बना लिया था।

पश्चिमी पंजाब से बड़ी संख्या में हिन्दू भागकर आ रहे थे और पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश से मुसलमान लाहौर और सिंध की तरफ जा रहे थे।

इसका कुछ असर राजस्थान के गाँवों-कस्बों के बाशिन्दों पर भी पड़ रहा था। कलकत्ते का भीषण दंगा हो चुका था। मुख्यमंत्री सुहरावर्दी की सीधी कार्यवाही के कारण सैकड़ों हिन्दुओं का कत्लेआम हो चुका था, ये सब खबरें वहाँ भी वहाँ से आये हुए लोग बढ़ा-चढ़ाकर सुनाते रहते थे।

आखिर १५ अगस्त, १९४७ को देश के दो टुकड़े हो गए। इसके थोड़े दिनों बाद पश्चिम पंजाब में बड़े पैमाने पर जिहाद हुआ। वहाँ से जो ट्रेनें अमृतसर-जालन्धर आतीं, उनमें सैकड़ों घायल हिन्दू रहते। युवती स्त्रियों को लाहौर में जबरन उतार लिया जाता। ये सब समाचार अतिरंजित होकर दिल्ली, हरियाणा और राजस्थान तक फैले।

राजस्थान और पंजाब की सीमा पर पाटण नाम का एक कस्बा है। उस समय वहाँ की जनसंख्या तकरीबन १०,००० रही होगी, जिनमें तीन चौथाई हिन्दू और एक चौथाई मुसलमान थे। मुसलमानों में अधिकांश गरीब थे – लखारे, रंगरेज, लोहार, कुंजड़े तथा अन्य मजदूरी करनेवाले। उनकी अजीविका हिन्दू महाजनों पर निर्भर थी।

सिंध और पंजाब में पाकिस्तानी मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित होकर कुछ हिन्दू शरणार्थी उस गाँव में आये। उनके अधिकांश स्वजनों को वहाँ मौत के घाट उतार दिया गया था, बाकी बचे हुए किसी प्रकार दीन-हीन दशा में वहाँ पहुँचे थे। उनके मन में प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही थी।

उनमें से किसी युवक ने एक मुसलमान लड़की के साथ अशोभनीय व्यवहार किया। इस प्रकार की घटना राजस्थान के गाँवों के लिये नई थी। गाँव की बहिन-बेटी को धनवान और गरीब, सब बहन-बेटी ही समझते थे।

लड़की के घर वालों ने पंचों के सामने गुहार की। युवक और उसके सम्बन्धी जोश और क्रोध में थे। उनका कहना था कि उनकी बहन-बेटियों के साथ पाकिस्तानी गुण्डों ने इससे भी कहीं अधिक अत्याचार किये हैं।

लड़की के भाइयों ने मौका देखकर सिंधी युवक को घायल कर दिया। सारे गाँव में खबर फैल गई कि वह मर गया है। शरणार्थी लोग और गाँव के कुछ हिन्दू युवक उस सिंधी युवक के घर के सामने इकट्ठे होने लगे। वहाँ से एक बड़ा जुलूस बनाकर वे लोग मुसलमानी मुहल्लों की तरफ गए। रास्ते में उनके घर और दुकानें जला दी गयी। छिट-पुट खून-खराबे की घटनायें भी होने लगीं।

सेठ श्यामलाल वहाँ के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। गाँव में उनकी बनवाई धर्मशाला, कुआँ और रघुनाथजी का मन्दिर था। उनके घर के पीछे की ओर रहीमा नामक एक मुसलमान रंगरेज का घर था। रहीमा की माँ, पत्नी और तीन-चार छोटे भाई-बहन थे। दंगाइयों की उसके घर की तरफ बढ़ने की खबरें आ रही थी। पत्नी के चार-पाँच दिनों पहले ही बच्चा हुआ था, वह सौरी में थी। प्रत्यक्ष मृत्यु को सामने आई देखकर घर के लोग भय से काँप रहे थे। रहीमा की बहू नन्हें बच्चे को गोद में लेकर श्यामलालजी की माँजी के पास आई और उनके पैर पकड़ कर रोती हुई कहने लगी, "माँजी हम सब दो पीढ़ियों से आपके पास रहते हैं, आपका दिया ही खाते हैं, अब हम इन बच्चों और बूढ़े ससुर को लेकर कहाँ जायें, आपकी शरण में आ गये हैं, मारो चाहे उबारो।"

रहीमा के घरवालों को सेठजी के घर के पीछे के दरवाजे से लाकर नीचे के तलघर में छिपा दिया गया। यद्यपि दंगाइयों को शक तो हो गया था, पर लालाजी के 'ना' कहने पर उनकी घर में जाकर खोज करने की हिम्मत नहीं हुई।

चार-पाँच दिनों तक दंगे का जोर रहा। वैसे माँजी परम वैष्णव थी, परन्तु उन्होंने उन सबके रहने-खाने की व्यवस्था अपने घर में ही की। उन दिनों अछूत और मुसलमानों से छुआछूत बरती जाती थी, परन्तु इस संकट के समय वे सब बातें भुला दी गईं।

दंगा शान्त होने पर, उन्हें एक रात विश्वस्त आदमियों और सवारियों के साथ, पास के पुलिस थाने में पहुँचा दिया गया। वहाँ से वे शायद किसी प्रकार पाकिस्तान पहुँच गये।

यह खबर जब गाँव के लोगों को मिली, तो उनमें से बहुत-से लोग श्यामलालजी पर नाराज हुए, बुरा-भला भी कहने लगे। परन्तु सारा उलाहना सुनने के बाद उनका एक ही जवाब था कि जो कुछ मैंने किया, माँजी की आज्ञा से किया है। उनकी यह मान्यता है कि एक के कसूर का दूसरों को दण्ड क्यों दिया जाय ! यदि पाकिस्तानी गुण्डों ने हिन्दुओं पर जुल्म किए, तो उसके लिये गरीब रहीमा के अबोध बच्चों की हत्या करने से क्या इसका बदला चुक जायेगा?

१९५६ ई. में एक बार मुझे इस गाँव में जाने का मौका मिला। मुसलमानों के घर, या तो टूटे-फूटे और उजाड़ पड़े थे या फिर शरणार्थियों द्वारा दखल कर दिये गए थे। वहीं पर मैंने रहीमा की कहानी सुनी थी।

संयोग की बात है कि १९६४ ई. में विश्वयात्रा करता हुआ मैं पाकिस्तान में कराची पहुँचा। वहाँ के रिजर्व बैंक के दफ्तर में गया हुआ था। मैंने देखा – एक बूढ़ा मुसलमान मुझसे बात करना चाहता है। एक कोने में मुझे ले जाकर धीरे से सहमते हुए कहने लगा – बातचीत से लगता है आप राजस्थानी हैं। फलाँ जिले के गाँव में मेरी बेटी है। सुना है उसके एक बच्चा भी हुआ है, परन्तु अभी तक अपने नाती को नहीं देख पाया हूँ। बेटी-दामाद को देखे भी १७ वर्ष हो गए। मेरे हाथ में बीस रुपये थमाते हुए कहने लगा कि बड़ी मेहरबानी होगी, अगर आप इन रुपयों से बच्चे के लिये कुर्ता-टोपी और थोड़ी-सी मिठाई वहाँ भिजवा देंगे, जितनी तनख्वाह मिलती है, उसमें खर्च चलना भी मुश्किल है, नहीं तो बेटी को भी कुछ भेजना चाहता था। मैंने देखा – उसकी आँखें गीली हो आई हैं। मैंने बताया कि यह गाँव मेरे सीकर जिले में ही है – चीजें तो भिजवा दूँगा, कभी मौका मिला तो तुम्हारी बेटी से मिलकर राजी-खुशी की खबर भी दे दूँगा। देखा – बूढ़े को मेरी बात सुनकर बहुत सांत्वना मिली है।

वृद्ध से बात करते हुए मुझे ८ वर्ष पहले की रहीमा की बात याद आ गई। वह भी शायद इसी प्रकार अपने गाँव और घर से दूर पाकिस्तान के किसी कस्बे में नौकरी करता होगा। उसे भी शायद इसी प्रकार अपनी जन्मभूमि और छोटे से घर की याद आती होगी।

❑❑❑
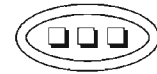
अध जल गगरी छलकत जाय

मनुष्य ईश्वर के जितने निकट आता है, तर्क विचार और प्रश्न करने की प्रवृत्ति उतनी ही घट जाती है। जब ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है, उनके प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं तब तर्क-विचारादि का शोरगुल पूरी तरह शान्त हो जाता है। मधुमक्खी जब तक गुनगुनाती हुई फूल के चारों ओर मँडराती रहती है, तब तक यह समझना चाहिए कि उसे फूल का मधु नहीं मिला है। अगर एक बार उसे मधु मिल जाए तो फिर उसका गुनगुनाना रुक जाता है और वह शान्त होकर फूल पर बैठ मधुपान करने लगती है। इसी तरह, मनुष्य जब तक धर्म के सिद्धान्तों को लेकर तर्क-वितर्क करता रहता है, तब तक यही समझना चाहिए कि उसे धर्मामृत का स्वाद नहीं मिला है। एक बार यदि वह उस अमृत का स्वाद चख ले, तो फिर वह शान्त हो जाता है। – *श्रीरामकृष्ण*

स्वामी विवेकानन्द के महान् शिष्य –

स्वामी विमलानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

१८९२ ई. में एफ. ए. की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद वे उसी रिपन कॉलेज में बी. ए. की पढ़ाई करते रहे। लगता है कि १८९४ ई. में बी. ए. की परीक्षा के पूर्व से ही उनका स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया था। बचपन से ही उन्हें पेट की मन्दाग्नि का रोग होने के कारण उनका शरीर दुर्बल था और अब तो उसकी अवस्था और भी बिगड़ गयी। स्वास्थ्य में सुधार हेतु अब उन्हें पढ़ाई छोड़नी पड़ी। चिकित्सकों की सलाह थी कि वे घर में ही रहकर अपने स्वास्थ्य की उन्नति का विशेष प्रयास करें। पर वस्तुत: घटनाचक्र की गति भिन्न दिशा में घूमी – इसी समय से लेकर १८९६ ई. तक कठोर नियम-शृंखला में रहकर खगेन्द्रनाथ ने अपने भावी संन्यासी-जीवन के महत्तर तथा दृढ़तर तैयारी में मन लगाया। अब ध्यान-धारणा, सद्ग्रन्थ-पाठ तथा मित्रों के साथ धर्मचर्चा में ही उनका समय बीतने लगा। ईश्वर-चिन्तन में अधिकाधिक मन लगाने तथा वराहनगर मठ के सर्वत्यागी भगवत्प्रेमियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर खगेन्द्रनाथ के चित्त में निश्चित विश्वास उत्पन्न हुआ कि ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति करने के लिये संसार-सुख को पूरी तौर से त्याग देना ही उचित होगा।

१८९७ ई. के फरवरी का महीना था। भारत का आकाश तथा वायु-मण्डल उन दिनों स्वामीजी की जयध्वनि से गूँज रहा था। विश्व में सर्वत्र वैदिक धर्म की विजय-पताका लहराने के बाद युगाचार्य विवेकानन्द भारत लौट आये थे। ६ फरवरी को वे बजबज में जलयान से उतरे और वहाँ से ट्रेन पर सवार होकर कोलकाता के सियालदह स्टेशन पहुँचे। कोलकाता के समाचार-पत्र स्वामीजी के इस शुभागमन को गौरवपूर्वक विविध प्रकार से प्रचारित कर रहे थे। देश के युवकगण सर्वत्र ही इस ऐतिहासिक घटना से मतवाले हो उठे थे। खगेन्द्रनाथ के लिये भी इस हलचल के तरंग से दूर रह पाना असम्भव हो गया। अपने रुग्ण भग्न शरीर के कारण वे सोच रहे थे कि क्या उनके लिये स्वामीजी का सत्कार-समारोह अपनी आँखों से देख पाना सम्भव हो सकेगा? जिन्हें वे इतने काल से मनश्चक्षुओं से ही देखते आये थे, क्या वे उनका वास्तविक चर्मचक्षुओं से भी दर्शन कर सकेंगे? खगेन्द्र मन-ही-मन अदम्य आकर्षण अनुभव करने लगे। अस्तु। विधाता की अदृश्य व्यवस्था से दुर्बल खगेन्द्रनाथ ने भी हजारों लोगों की प्रबल भीड़ को ठेलते हुए सियालदह स्टेशन पर स्वामीजी का दर्शन किया था। केवल दर्शन ही नहीं, कोलकाता के उत्साही मित्रों के सहयोग से वे स्वामीजी की गाड़ी के घोड़ों को खोलकर गाड़ी को स्टेशन से रिपन कॉलेज के गेट तक खींचकर ले भी आये थे। स्वामीजी को जब उन्होंने अपनी आँखों से नहीं देखा था, तब तक उनके मन में उनके प्रति एक तरह का आकर्षण था, परन्तु उनका साक्षात् दर्शन करने के बाद से खगेन अपने हृदय में उनके प्रति एक अभूतपूर्व लगाव का बोध करने लगे। यह लगाव ही उनके गृहत्याग का कारण बना।

रिपन कॉलेज में स्वामीजी के अभिनन्दन-कार्यक्रम समाप्त होने के बाद खगेन घर लौट आये, परन्तु घर में अधिक काल रहना उनके लिये सम्भव नहीं हुआ। किसी प्रकार भोजन आदि करके वे फिर दोपहर में मित्र सुधीर को साथ लेकर पिता के टमटम में सवार होकर बागबाजार के पशुपति बोस के मकान की ओर चल पड़े, जहाँ स्वामीजी के ठहरने की व्यवस्था हुई थी। सुदीर्घ यात्रा के बाद स्वामीजी थोड़ी देर पहले ही इस भवन में पहुँचे थे और थके होने के कारण उस समय ऊपर के कमरे में विश्राम कर रहे थे। बाहर के किसी को भी उनके पास जाने की अनुमति नहीं थी। परन्तु ये दोनों आग्रही युवक बड़े सौभाग्यवान थे। स्वामी शिवानन्द स्वयं ही खगेन तथा सुधीर को अपने साथ स्वामीजी के पास ले गये। शिवानन्दजी परिचय कराते हुए बोले, "ये दोनों आपके खूब प्रशंसक हैं।" स्वामीजी उस समय योगानन्दजी के पास कुर्सी पर बैठे हुए बड़े आवेग के साथ कह रहे थे, "देख योगेन, जानता है वहाँ मैंने क्या देखा? सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक ही महाशक्ति का खेल चल रहा है। हमारे पूर्वजों ने उसे धर्म के रूप में अभिव्यक्त किया था और आधुनिक पाश्चात्य देशों के लोगों ने उसी को महा-रजोगुण की क्रिया के रूप में अभिव्यक्त किया है। वस्तुत: समग्र जगत् उसी एक महाशक्ति का वैचित्र्यपूर्ण खेल मात्र है।" स्वामीजी को घेरे हुए और उनके आसपास और भी कुछ दर्शनार्थी तथा संन्यासी वहाँ उपस्थित थे। खगेन्द्रनाथ तथा उनके मित्र अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम करके फर्श पर बैठ गये। सहसा स्वामीजी की ज्योतिर्मय दृष्टि खगेन पर पड़ी और वे स्नेहपूर्ण स्वर में बोल

उठे – "यह लड़का तो बड़ा दुर्बल दिख रहा है ।" शिवानन्दजी ने उत्तर दिया – "यह बहुत दिनों से chronic dyspepsia से कष्ट भोग रहा है ।" इस पर स्वामीजी बोले – "हमारे बंगाल के लोग बड़े भावुक हैं न, इसीलिये यहाँ लोगों को इतना dyspepsia होता है ।" स्वामीजी के साथ प्रथम साक्षात्कार के समय खगेन का इसी प्रकार परिचय आदि हुआ था। इसके बाद दोनों मित्र स्वामीजी को प्रणाम आदि करके वापस घर लौट गये, परन्तु वे लोग अपने शरीर के हर तंत्री में एक अज्ञात विद्युत् का आकर्षण महसूस करने लगे। खगेन को लगने लगा कि ये अद्भुत व्यक्ति कौन हैं? ऐसे व्यक्ति तो पहले कभी देखने में नहीं आये ! परवर्ती काल में इस प्रथम दर्शन का स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा था – "The first sight of Swamiji, the peculiar brightness of his face, his lustrous yet soft and sweet eyes, at once carried into my heart an overwhelming sense of satisfaction that I had come to a man the like of whom I had never seen before."

प्रथम दर्शन के समय स्वामीजी के चेहरे की अनुपम कान्ति तथा उनके दोनों कोमल माधुर्यमय नेत्रों ने उनके प्राणों को एक गहन तृप्ति से परिपूर्ण कर दिया था। उन्हें ऐसा लगा मानो वे एक ऐसे व्यक्ति के पास जा पहुँचे हैं, जिनके समान व्यक्ति को उन्होंने इसके पहले कभी नहीं देखा। अपनी इस गम्भीर आत्मतृप्ति को उन्होंने अपनी सुन्दर सशक्त भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है – "I only saw on the first day the few sparks that shot forth into our range of vision from a soul aglow with the fire of divine love and wisdom." अर्थात् "उस प्रथम दिन, दिव्य प्रेम तथा ज्ञान की अग्नि से आलोकित उन महापुरुष से नि:सृत होकर मेरे दृष्टिपथ में आनेवाली केवल कुछ चिनगारियाँ ही मुझे देखने को मिली थीं।" खगेन की सशक्त तथा काव्यमय भाषा सचमुच ही अतूल्य है। इस प्रचण्ड अग्नि-स्पर्श से उन्होंने अपना जीवन ऐसा प्रदीप्त कर लिया था कि स्वामीजी की अलौकिक शक्ति को इतने सुन्दर ढंग से व्यक्त करना उनके लिये सम्भव हो सका था।

स्वामीजी के प्रथम दर्शन के दिन खगेन्द्रनाथ केवल उनके ब्रह्मतेज से आलोकित रूप तथा व्यक्तित्व से ही आकृष्ट हुए हों, ऐसी बात नहीं है। खगेन उनके तृण से भी बढ़कर विनय-भाव तथा असाधारण गुरुभक्ति पर भी मुग्ध हो गये थे। इन आपात-विरोधी दोनों भावों का एकत्र समावेश देखकर वे विस्मित तथा विमोहित हो गये थे और अध्यात्म-पथ का एक नवीन पहलू उनके समक्ष व्यक्त हो उठा था। इस प्रसंग में एक स्मृति उनके चित्त में इतनी गहराई से अंकित हो गया थी कि परवर्ती काल में उसके बारे में बोलते हुए वे भाव-विभोर हो उठते थे। स्वामीजी के प्रथम दर्शन के दिन की वह घटना इस प्रकार है – उस दिन एक जिज्ञासु ने प्रश्न उठाया था कि श्रीरामकृष्ण के विषय में प्रदत्त स्वामीजी का एक भी व्याख्यान क्यों प्रकाशित देखने में नहीं आता ! स्वामीजी ने तत्काल नि:संकोच भाव से उत्तर दिया, "हाँ, मैंने ही उसे प्रकाशित करने की अनुमति नहीं दी, क्योंकि मैं श्रीरामकृष्ण को ठीक-ठीक समझ या समझा नहीं सका हूँ। मेरे गुरुदेव ने कभी किसी व्यक्ति या वस्तु की निन्दा नहीं की। परन्तु मैं उन्हीं का शिष्य होकर उन्हीं के विषय में व्याख्यान देते हुए अमेरिका की कांचन के प्रति आसक्ति की निन्दा की है। उसी दिन से मेरे मन में यह धारणा बन गयी है कि मैं अब भी उनके विषय में बोलने के योग्य नहीं हूँ।"

यह निरभिमानिता – यह अपूर्व गुरुभक्ति स्वामीजी के लिये सम्भव था। जो व्यक्ति ने पूरब तथा पश्चिम के असंख्य अनुरागियों की पूजा प्राप्त कर चुका था, उसके लिये इतनी दीनता कैसे सम्भव थी, यह समझना खगेन की बुद्धि के परे था। फिर वे यह भी सोच रहे थे कि इतने बड़े महापुरुष का मस्तक जिन गुरु के चरणों में अवनत होता है, उनका अपना जीवन न जाने कितना महान् होगा ! खगेन्द्रनाथ की अपनी ही भाषा में उनका उस दिन का भाव बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। स्वामीजी की उसी उक्ति का स्मरण करते हुए वे कहते हैं – "These words were really startling to us for more than one reason. Here was a man who was idolized, nay actually worshipped, by so many, and this man in their very presence was confessing his inability to represent his guru. "What an unpretentious man is before us," said we to ourselves. "What a wonderful man must his guru have been to occupy such a high place in the heart of this great man." अर्थात् "उनके ये शब्द कई कारणों से हमारे लिये विस्मय-जनक थे। जो व्यक्ति इतने लोगों द्वारा प्रशंसित ही नहीं, बल्कि पूजित भी हो रहा था, वही उन्हीं लोगों की उपस्थिति में अपने गुरुदेव का प्रतिनिधित्व कर पाने में अपनी असमर्थता स्वीकार कर रहा था ! हम लोगों ने मन-ही-मन सोचा – "यह व्यक्ति कितना निरभिमानी है और इन महापुरुष के हृदय में इतना उच्च स्थान पर अधिकार करने वाले उनके गुरुदेव भी कैसे अद्भुत व्यक्ति रहे होंगे !"

स्वामीजी जब जहाँ भी निवास करते – वराहनगर में, गोपाल लाल शील के उद्यान-भवन में या आलमबाजार मठ में, खगेन्द्रनाथ दौड़कर वहीं पहुँच जाते। कोलकाता में स्वामीजी के जहाँ कहीं भी व्याख्यान आदि होते, वहाँ जाकर वे उनकी वाणी सुनते। तात्पर्य यह कि स्वामीजी के दर्शन का कोई भी अवसर वे हाथ से नहीं जाने देते। परन्तु स्वामीजी के चारों ओर

सर्वदा दर्शकों तथा जिज्ञासुओं की इतनी भीड़ लगी रहती कि दुर्बल शरीरवाले खगेन लोगों को ठेलकर स्वामीजी के खूब निकट पहुँचकर उनका संग नहीं कर पाते। इससे उनके मन में थोड़ा क्षोभ रहने पर भी दूर से ही स्वामीजी की शक्तिदायी वाणी तथा उपदेश सुनकर तथा उनके ज्योतिर्मय रूप का दर्शन करके खगेन अपूर्व आनन्द से परिपूर्ण हो उठते। क्रमश: उनके हृदय में भावान्तर उपस्थित हुआ और उन्हें प्रतीत होने लगा कि वे स्वामीजी को ही अपनी जीवन-नौका का कर्णधार बनाये बिना नहीं रह सकते। अत्यधिक परिश्रम तथा असंख्य लोगों के साथ निरन्तर मिलने-जुलने के कारण सहसा स्वामीजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। इससे बाध्य होकर लोगों की भीड़ को धीरे-धीरे कम करना पड़ा। विधि के विधान से एक दिन खगेन्द्रनाथ को थोड़े एकान्त में स्वामीजी के पास बैठने का सुयोग मिला। उस समय १८९७ ई. का मध्य-काल चल रहा था। खगेन ने अब विलम्ब करना उचित नहीं समझा। उन्होंने अपने माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद तथा अनुमति लेकर संसार से विदा हुए। संसार-त्यागी खगेन्द्रनाथ ने अब अपने चिर-अभिलाषित स्वामीजी के चरणों में आकर शरण लिया। स्वामी सारदानन्दजी के शब्दों में, "इस प्रकार जिस दिन खगेन्द्रनाथ ने संसार से विदा ली, उसी दिन स्वामी विवेकानन्द के मानस-पुत्र गैरिकधारी, मुण्डित-मस्तक, यति विमलानन्द ने भी जन्म ग्रहण किया और उनके स्थान पर 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय' संसार-प्रवेश किया।"

स्वामीजी को गुरु के रूप में वरण करने के बाद विमलानन्द उन्हीं के निर्देशानुसार जप-ध्यान, शास्त्रचर्चा तथा विविध प्रकार के सेवा-कार्यों में जुट गये। स्वामी तुरीयानन्दजी उन दिनों मठ के साधु-ब्रह्मचारियों को वेदान्त पढ़ाया करते थे। स्वामीजी के आदेश पर विमलानन्द भी ब्रह्मविद् तुरीयानन्दजी के पास शास्त्र आदि पढ़ने लगे। उनके आध्यात्मिक जीवन के विकास-पथ पर यह भी एक स्मरणीय घटना है।

१८९८ ई. के दिसम्बर में बेलूड़ मठ की स्थापना हुई। मठ में विमलानन्द अपने गुरुदेव के पवित्र सान्निध्य में सचमुच ही विमल आनन्द का उपभोग कर रहे थे। मठ के रुग्ण भाइयों की सेवा में उनकी तत्परता देखते ही बनती थी। लोगों के अभाव में यदि वे किसी को अतिरिक्त परिश्रम करते देखते, तो स्वयं ही उससे कार्य छीनकर यथासाध्य सहायता करते। अस्तु। कुछ काल बाद मायावती में नव-प्रतिष्ठित अद्वैत आश्रम के लिये स्वामीजी ने स्वयं ही विमलानन्द का चयन किया। विरजानन्द तथा सच्चिदानन्द के साथ विमलानन्द भी कर्मी के रूप में मायावती भेजे गये। यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वामीजी स्वयं विमलानन्द की अंग्रेजी भाषा की विशेष प्रशंसा किया करते थे। अत: नि:सन्देह मायावती से निकलने वाली 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका का सम्पादकीय विभाग उन्हें पाकर विशेष समृद्ध हुआ था। उस समय स्वामी स्वरूपानन्द उस पत्रिका के सम्पादक थे। स्वामीजी के प्रिय शिष्य कैप्टेन सेवियर ने अपना खून-पसीना एक करके इस अद्वैत आश्रम का निर्माण किया था और वे ही इसके प्रधान व्यवस्थापक थे। विमलानन्द कैप्टेन सेवियर के सहकारी नियुक्त हुए। सभी गुरुभाई एक साथ मिलकर पूरी निष्ठा के साथ स्वामीजी द्वारा स्थापित वेदान्त-प्रचार के इस केन्द्र की सर्वांगीण उन्नति में जुट गये। हिमालय के इस निर्जन प्रान्तर में विमलानन्द ने सचमुच ही अपने गुरु द्वारा आदिष्ट कर्म तथा ध्यान में अपना पूरा मन-प्राण ढाल दिया था। बाद में उन्होंने मायावती के प्रधान व्यवस्थापक तथा सहकारी सम्पादक का कार्यभार भी स्वीकार किया था। 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका में प्रकाशित उनकी रचनाओं ने सबका ध्यान आकृष्ट किया था। स्वामीजी की कृपा से प्राप्त ज्ञान ही उनकी लेखनी के माध्यम से प्रवाहित हो रहा था। हिमालय के शान्तिमय परिवेश में विमलानन्द का अन्तर्मुखी मन सर्वदा उच्च भावों में उन्नीत रहता और वहाँ की विशुद्ध जलवायु के कारण उनके स्वास्थ्य में भी काफी सुधार परिलक्षित हुआ। १९०० ई. में एक बार जब वे किसी कार्यवश बेलूड़ मठ आये, तब सभी लोगों ने उन्हें देखकर सोचा था कि वे अब इस स्वस्थ शरीर में दीर्घायु होकर काफी काल तक श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द का भाव-प्रचार कर सकेंगे।

कैप्टेन सेवियर की मृत्यु के बाद, जब १९०१ ई. की जनवरी में स्वामीजी मायावती गये, तब विमलानन्द को अपना बहु-आकांक्षित गुरुसेवा का अवसर कुछ दिनों के लिये एक बार फिर मिला था। यद्यपि स्वामीजी ने केवल दो सप्ताह ही मायावती में निवास किया था, तथापि विमलानन्द अपने मन की साध मिटाते हुए हिमालय के पुनीत परिवेश में आचार्यदेव की सेवा में मनोनियोग करके धन्य हुए थे।

इसी बीच विमलानन्द, विरजानन्द तथा अन्य कुछ लोगों के प्रयास से अद्वैत आश्रम में एक छोटा-सा मन्दिर भी बन गया था, जिसमें पुष्प-धूप-दीप आदि के साथ नियमित रूप से पूजा भी हुआ करती थी। अद्वैत आश्रम की स्थापना के पीछे स्वामीजी का उद्देश्य यह था कि वहाँ पूरी तौर से अद्वैत-भाव के अनुसार ही ईश्वर का ध्यान-चिन्तन हो; वहाँ द्वैतभाव से उपासना आदि का बिल्कुल भी प्रचलन न हो। अत: अद्वैत आश्रम में ठाकुर-घर देखकर उन्हें जरा भी प्रसन्नता नहीं हुई। स्वामीजी की इच्छा ज्ञात होते ही पूजा बन्द हो गयी और मन्दिर को उठा दिया गया। मन्दिर की स्थापना में विमलानन्द ने विशेष उत्साह दिखाया था, अत: इस घटना से उनके मन में अनेक दिनों तक पीड़ा होती रही और उन्होंने जयरामबाटी में श्रीमाँ सारदादेवी को पत्र लिखकर उन्हें इस विषय में अपने

(शेष अगले पृष्ठ पर)

न मे भक्तः प्रणश्यति (६)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आवासीय सभागृह में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

आज से लगभग सात-आठ सौ साल पहले की बात होगी। महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर एक बहुत बड़े संत हो गये। गीता पर उनकी एक टीका है 'ज्ञानेश्वरी'। अद्भुत टीका है। जैसे संस्कृत के विद्वान् कहते हैं, 'उपमा कालिदासस्य' – उपमा में कालीदास की तुलना नहीं है। वे तो संत ज्ञानेश्वर से भी लगभग दो हजार साल पहले हुये। यदि उस समय संत ज्ञानेश्वर की टीका स्वयं कालीदास ने भी पढ़ी होती तो बाद के लोग यही कहते कि उपमा ज्ञानेश्वरस्य – उपमा में ज्ञानेश्वर की कोई तुलना नहीं है। उसमें इतनी सुन्दर उपमायें संत ज्ञानेश्वर ने दी हैं। ज्ञानेश्वर महान ज्ञानयोगी थे, भक्त तो थे ही। वे नाथ संप्रदाय के, गोरक्ष संप्रदाय के थे। उनके बड़े भाई निवृत्तिनाथ ही उनके गुरु थे और उन्हें योग-साधना में सिद्धि प्राप्त हुई थी। उसी समय भारतवर्ष में नामदेव के नाम से एक संत हुए थे। वे दर्जी थे, कपड़ा सिलने का काम करते थे, पर उच्च कोटि के भक्त थे। उनको राजयोग से कुछ लेना-देना नहीं था। उसे वे न जानते थे, न समझते थे। वे एक विट्ठल को ही जानते थे, विट्ठल माने भगवान कृष्ण। संत ज्ञानेश्वर ने सोलह वर्ष की अवस्था में ही समाधि ली थी। अभी भी आणन्दी में उनका समाधि स्थल है। एकबार संत ज्ञानेश्वर की इच्छा हुई कि तीर्थ-यात्रा के लिए निकलें। उस समय रेलगाड़ी, मोटर आदि तो नहीं थे। न टेलीफोन, न ऑनलाइन काल का कोई प्रबन्ध था कि भई हमारा टिकिट बुक करा दो, हम अभी आधे घंटे बाद की फ्लाइट से जायेंगे। उस समय तो लोग ग्यारह नम्बर की बस (दो पैर से) से ही चलते थे। तो संत ज्ञानेश्वर ने सोचा कि किसी संत के साथ मैं तीर्थ-यात्रा पर जाँऊ तो मुझे सत्संग का लाभ मिलेगा और मैं आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होउँगा। वे स्वयं इतने बड़े आध्यात्मिक पुरुष थे। किन्तु उन्होंने नामदेव जी से प्रार्थना किया कि मैं आपके साथ तीर्थ-यात्रा में जाना चाहता हूँ। आप देखें, भक्तों की कैसी परस्पर निर्भरता और निरहंकारिता है ! नामदेव सोचन लगे, ज्ञानेश्वर जैसे महान योगी और ज्ञानी के साथ जाऊँगा, तो मेरा कल्याण होगा। ज्ञानदेव सोच रहे हैं कि नामदेव के साथ जाऊँगा तो मेरा कल्याण होगा। दोनों संतों का अहं मिट चुका था। यह बात विचारणीय और जीवन में अनुकरणीय है। वे लोग भारतवर्ष के बहुत से तीर्थों में गये। ब्लूचिस्तान, जो अभी पाकिस्तान में है, वह पूरा पाकिस्तान पहले हमारे देश भारत में ही था। उनमें भी वे लोग गये। वे लोग किसी तीर्थ का दर्शन करने राजस्थान की मरुभूमि से जा रहे थे। मरुस्थल की भूमि, गर्मी के दिन थे, बहुत प्यास लगी। दूर-दूर तक रेत के सिवाय और कुछ नहीं था। दोनों प्यासे चल रहे हैं। चलते-चलते रास्ते में एक कुँवा दिखाई दिया। ज्ञानदेव ने पास जाकर देखा कि पानी तो है, पर बहुत गहरे में है। पानी निकालने के लिए वहाँ कोई रस्सी-बाल्टी नहीं है। आस-पास कोई बस्ती, गाँव, घर कुछ भी नहीं है। प्यास से गला सूख गया है। ज्ञानदेव तो योगी थे। तुरन्त अपनी योगशक्ति से वे कुँवे में नीचे उतर गये, जल पीया, अपने कमण्डल में पानी भर लिया और ऊपर आ गए। उन्होंने नामदेव जी को कमण्डल देते हुए कहा कि आप भी जल पीजिए। नामदेव ने कहा, नहीं। बिट्ठल की अगर यही इच्छा है कि प्यासा रहूँ तो प्यासा ही रहूँगा। मैं सिद्धि का जल नहीं पीऊँगा। तब नामदेव रोते हुए भगवान बिट्ठल से कहते हैं कि क्या तुम मुझे इसी प्रकार प्यास से तड़पाकर मारना चाहते हो? ठीक है, जब तुम्हारी यही इच्छा है, तो वही हो और उनकी आँखों से दो बूँद आँसू गिरे। वे दो बूँद आँसू कुँवे में गिरे और कुँवे का जल एकदम ऊपर आ गया। तब नामदेव ने अपनी अंजलि में जल लिया और अपनी प्यास बुझाई। यह सत्य घटना है, कल्पना नहीं है। यह ऐतिहासिक सत्य है। नामदेव ने सिद्धि को

पिछले पृष्ठ का शेषांश

संशय से अवगत कराया था। इस बीच उनका मन अद्वैत तथा द्वैत के इस द्वन्द्व के बीच झूलता रहा। आखिरकार माँ ने ही शिष्य-सन्तान के इस मानसिक द्वन्द्व को दूर किया। पत्र के उत्तर में उन्होंने विमलानन्द को लिखा, "हमारे गुरुदेव अद्वैत थे, उन्हीं के शिष्य होने के कारण तुम लोग भी अद्वैतवादी हो। मैं जोर देकर कह सकती हूँ कि तुम लोग निश्चित रूप से अद्वैतवादी हो।" ३१ अगस्त १९०२ को जयरामबाटी से भेजा हुआ माँ का यह पत्र मायावती में ७ सितम्बर १९०२ को उनके हाथ में पहुँचा। माँ के इस आश्वासन से विमलानन्द तथा उनके सभी गुरुभाई सदा के लिये निर्द्वन्द्व हो गये। अब उन लोगों ने अपने वेदान्तविद् आचार्य का मनोभाव ठीक-ठीक समझ लिया था। घटना छोटी होने पर भी भाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अस्तु। १९०२ ई. के ४ जुलाई को स्वामीजी की ऐहिक लीला का अवसान हो जाने के कारण, विमलानन्द के भाग्य में स्थूल रूप से पुनः गुरु-दर्शन सम्भव नहीं हो सका था। ❖ **(क्रमशः)** ❖

अस्वीकार कर दिया। उनका भाव था कि मैं भक्त हूँ, तो भगवान मेरी रक्षा करें। यही कहकर वे भगवान के सामने रोये। भगवान ने उनकी प्यास बुझाकर इस प्रकार से रक्षा की, **न मे भक्तः प्रणश्यति**।

आपके हमारे जीवन में यही उपाय है कि हम भगवान के सामने रोकर प्रार्थना करें, हे प्रभु ! हमारे जीवन के जो कष्ट हैं, दुख हैं, इनको मैं किसी भी उपाय से दूर नहीं कर सकता। तुम्हीं मेरे एक मात्र आधार हो, जो इसको दूर कर सकते हो।

यदि हम अपने जीवन पर दृष्टि डालकर देखें, तो दिखेगा कि इसी जन्म के जो वर्ष बीत चुके हैं, उनमें ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनमें हमारा पुरुषार्थ कोई काम नहीं आया, पर आश्चर्यमय ढंग से हमारी रक्षा हुई। यह कैसे होता है? अब तक हमारे जीवन में पुरुषार्थ ही प्रधान रहा है – मैंने ऐसा किया, मैंने वैसा किया। मैंने यह योजना बनाई है। मैंने यह व्याख्यान दिया, मैं इनसे मिलूँगा, उनसे मिलूँगा, आप चिन्ता न करें, मेरी उनसे बड़ी पहचान है, मैं उनसे कहकर आपका काम करा दूँगा आदि और काम हो भी जाता है। किन्तु इस अहं व्यवहार के कारण या हमारे जीवन में अहं की प्रधानता के कारण हम भक्त नहीं बन पाते। अहंकार और भक्ति कभी एक साथ नहीं हो सकते –

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान ।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान ।।

अहंकार भी रहे और जीवन में भक्ति भी आ जाये, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसलिए हमारे जीवन में अहंकार प्रधान है, भक्ति नहीं है। कल हम लोग चर्चा कर रहे थे कि भगवान का एक स्वभाव है दयालुता। जैसे मक्खन। मक्खन ताप से पिघलेगा, यह उसका स्वभाव है। उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मोम गर्मी से पिघलेगा, उसका स्वभाव है। जैसे मक्खन का स्वभाव है कि वह ताप से पिघल जाता है, यह उसकी विवशता है। वैसे ही हम कितने भी दीन हों, दुर्बल हों, जो कुछ भी हों, भगवान की भी यह विवशता है कि वह भक्त की प्रार्थना से पिघल जाते हैं। क्योंकि वे दयालु हैं। उनको अवश्य दया करनी पड़ती है।

भगवान श्री रामकृष्ण के जीवन से आप सब लोग परिचित हैं। उनके जीवन में ऐसी बहुत सी घटनायें हुई हैं। उनके एक शिष्य थे गिरीशचन्द्र घोष। जैसे मीरा या चैतन्य भक्त-शिरोमणि थे, वैसे गिरीशचन्द्र घोष बंगाल के दुष्ट-शिरोमणि थे। ऐसी कोई दुष्टता या कुकर्म नहीं था, जो गिरीश घोष ने न किया हो। पर इतना सब होने के बाद भी मनुष्य का जो सत्य स्वरूप है, उसको आप दबा नहीं सकते। गीता के आठवें अध्याय में बहुत से प्रश्न हैं, जिनमें एक प्रश्न यह भी है, जिसे अर्जुन भगवान से पूछते हैं – किम् अध्यात्मम्? – यह अध्यात्म क्या है? भगवान जो उत्तर देते हैं, उसे मैं संक्षेप में ही आपसे कहता हूँ – स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते – हमारा जो मूल स्वभाव है, वही अध्यात्म है और कुछ नहीं। इस स्वभाव को मनुष्य कभी भी स्थायी रूप से दमित नहीं कर सकता। यह अदमनीय है। कुछ समय के लिए, कुछ वर्षों के लिए, कुछ जन्म के लिए चाहे इसको हम दमित करके रख सकते हैं, पर मूलतः यह अदम्य है। गिरीश घोष के जीवन में इतने सब पापों के बाद भी यह छटपटाहट हमेशा बनी रहती थी कि इतना सब किया, पर ऐसी कोई कमी है, जिसके कारण मेरे मन में अशान्ति बनी रहती है। वह क्या है? वैसे तो वे बहुत अभिमानी थे। शराब बहुत पीते थे। एक बार वे एक सभा में गये थे। गिरीष घोष उस समय थोड़ा कम पी कर आए थे। वहाँ और भी बड़े-बड़े लोग, कुछ विद्वान और उनके परिचित लोग बैठे थे। उनमें से किसी ने कहा – ओरे, देख, ए गिरीश बाबू, ए शाला, मद खाय – अरे देखो, यह गिरीश बाबू है। यह शाला, शराब पीता है। यह सुनकर गिरीश घोष कहते हैं – शाला, आमि जखन मद खाई तखन माताल, किन्तु जखन आमी नाटक लिखी, जखन आमी नाटक करी, तखन आमी गिरीश घोष नाटककार। तोरा के रे पोका – अरे शाले, मैं जब शराब पीता हूँ, तब तो शराबी हूँ, किन्तु जब नाटक लिखता हूँ, नाटक का अभिनय करता हूँ, तब नाटककार गिरीश घोष भी हूँ। किन्तु तुम लोग तो कीड़े-मकोड़े हो। शराब नहीं पीते हो, ठीक है। यही गिरीश घोष बाद में श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में मुश्किल से दो वर्ष रहे। कैसे इनकी अदम्य आध्यात्मिक पिपासा जागृत हो गयी, इसे आप देखेंगे। श्रीरामकृष्ण के पास जब वे आये, तो सभी प्रकार के कुकर्म के चूड़ामणि थे। आप श्रीरामकृष्ण को अवतार न भी माने, महात्मा भी माने, तो भी आपका कल्याण ही होगा। क्योंकि महात्मा और भगवान के गुण समान होते हैं। श्रीरामकृष्ण के पास दूसरे जो भक्त आते थे, वे उनसे कहने लगे – अरे, इस शराबी और व्यभिचारी को भी आप यहाँ आने देते हैं? ठाकुर कुछ कहते नहीं थे। जब लोग उनसे बार-बार कहते, महाराज वह शराब बहुत पीता है। तो कहते – अरे थाक न! कतो खाबे – अरे रुको न, कितना पियेगा। एक बार गिरीश घोड़ा-घाड़ी में दक्षिणेश्वर आए। श्रीरामकृष्ण बैठे हैं, संयोग की बात अकेले हैं। तो उनसे वे ईश्वर-चर्चा करने लगे। अभी आधे घण्टे ही चर्चा हुई होगी, तब तक उनको तलब लग गयी। जिसे हम लोग तलब लगी कहते हैं, आधुनिक डाक्टर लोग और सायक्रेस्टिक भी अपनी भाषा में कहते हैं – 'कम्पलसिव आप्सेशन'। डॉक्टर हमें बताते हैं कि जैसे सिगरेट पीने वालों को

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सार्वभौमिक आध्यात्मिक ऊर्जा-शक्ति का केन्द्र : बेलूड़ मठ (३)

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

श्रीमाँ सारदा देवी का संक्षिप्त परिचय

माँ सारदा देवी का जन्म पश्चिम बंगाल के जयरामबाटी ग्राम में २२ दिसम्बर, १८५३ में हुआ था। वे अपनी भक्त-मंडली में श्रीमाँ के नाम से विख्यात् हैं। छः वर्ष की अवस्था में उनका विवाह श्रीरामकृष्ण देव से हुआ था। अठारह वर्ष की अवस्था में दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण देव के पास पहुँची। श्रीरामकृष्ण ने माँ जगदम्बा के रूप में उनकी पूजा की। श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें यह भी सिखाया कि कैसे दैनिक जीवन में कर्त्तव्यों का पालन करते हुये तीव्र, गहन आध्यात्मिक जीवन-यापन किया जा सकता है, कैसे परमात्मा की अनन्य निष्ठा से आराधना कर सकते हैं। अगस्त, १८८६ में श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद रामकृष्ण-संघ के विकास में उन्होंने एक आध्यात्मिक गुरु, संघजननी तथा जगत्-माता की विशेष भूमिका निभाई। वर्ण-जाति, धर्म-सम्प्रदाय, धनी-गरीब इन सभी उपाधियों से परे सभी लोगों के लिये मातृ-प्रेम, समर्पण और सहनशीलता से वे विश्व के सभी नारियों की उज्ज्वल, ज्वलन्त आदर्श हैं। वे प्रेम और करुणा की प्रतिमूर्ति थीं। उनके वात्सल्य-अंक की स्निग्ध वायु समस्त प्राणियों के लिये उन्मुक्त थी। उनका आदर्शमय जीवन युग-युगान्तरों तक सम्पूर्ण मानवता को प्रेरित करता रहेगा।

माँ सारदा का स्वरूप

माँ सारदा के स्वरूप की अभिव्यक्ति युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने स्वयं किया है। वे कहते हैं – "वह सारदा है, सरस्वती है। ज्ञान देने के लिये आई है। वह ज्ञानदायिनी है, महाबुद्धिमती है। वह मेरी शक्ति है।" माँ सारदा की त्रिपुरसुन्दरी के रूप में पूजा करते हुये श्रीरामकृष्ण

पिछले पृष्ठ का शेषांश

निकोटिन के प्रभाव से उनके मस्तिष्क के उन अंशों पर छाप लग जाती है, निकोटिन जाकर मस्तिष्क के कुछ शेल्स में जाकर बैठ जाता है और जैसे हम घड़ी में एलार्म लगाते हैं, उसी तरह हमें वह एक घंटे, दो घंटे, जितना उसका प्रभाव रहता है, उसके बाद हमें याद दिलाता है कि अब हमें सिगरेट पीना है, गुड़ाकू लगाना है या गुटका खाना है। उसको हम तलब लगी कहते हैं। तो यह है 'कम्पलसिव आप्सेशन'। तो गिरीश ऐसे थे ! उनको थोड़ी देर में तलब लगती थी। जब तलब लगती, तब वे कहते, हाँ, एकटु आस्छी और अपनी गाड़ी के पास चले जाते। उनकी गाड़ी में शराब की बोतल रखी होती थी। थोड़ा पी लेते और फिर से आकर धर्म-चर्चा करने लगते। ऐसा चलता रहा। एक दिन की बात। गिरीश आये हुए हैं। वे श्रीरामकृष्ण से चर्चा कर रहे हैं। उन्हें थोड़ी देर बाद तलब लगी, तो कहते हैं अच्छा अभी थोड़ी देर में आया। तो श्रीरामकृष्ण बोले, अरे, बैठो, बैठो, कहाँ जा रहे हो? तब बैठ गये। अब बैठ तो गये, पर वह तो 'कम्पलसिव आप्सेशन' है। उनका भगवत्चर्चा में मन नहीं लग रहा है। वे विचलित हो रहे हैं। फिर बोले, अभी आता हूँ। अरे बैठ न! एक बार, दो बार पर गिरीश जब एकदम विचलित हो गये तो ठाकुर ने अपने गोल तकिया के पीछे से एक बोतल निकाला और गिरीश के सामने रख दिया। वे तो अवतार थे। सब कुछ जानते थे। अपने भतीजे रामलाल से सुबह-सुबह कह रहे हैं, अरे, आज जाकर शरब की दुकान से एक बोतल शराब लाना तो। भतीजे रामलाल जानता था कि चाचा की बात को भगवान भी काट नहीं सकता। किसलिए शराब मँगा रहे हैं, पूछा नहीं, लाकर दे दिया। और जब श्रीरामकृष्ण ने गिरीश के सामने वह शराब की बोतल रखी, तो गिरीश को जीवन में पहली बार यह लगा कि यह एक ऐसा व्यक्ति है, जो मेरी सारी दुर्बलताओं को जानता है, मेरे दोषों को जानता है, फिर भी इसने मुझसे घृणा नहीं की और मुझे स्वीकार कर लिया। क्यों कर लिया? – **अपिचेत्सुदुराचारः भजते माम् अनन्यभाक्** – अत्यन्त दुराचारी भी यदि मेरा अनन्य भाव से भजन करता है, तो उसे साधु ही समझो, उसे भक्त ही जानो। दुराचारी गिरीश का ऐसा दृढ़ विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। वे उन प्रथम व्यक्तियों में थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण को ईश्वर का अवतार स्वीकार किया। वे ईश्वर के अवतार होने का प्रचार करते थे। श्रीरामकृष्ण ने उनसे एक जनवरी १८८६ के दिन काशीपुर के बगीचे में कहा था, अरे गिरीश तूने मुझमें ऐसा क्या देखा कि तू सब जगह प्रचार करता है कि मैं अवतार हूँ। तब गिरीश ने घुटने टेककर कहा – व्यास और वाल्मीकि जिसका वर्णन नहीं कर सके, उनके बारे में भला मैं क्या कह सकता हूँ ! किसी ने गिरीश घोष से कहा कि ये श्रीरामकृष्ण अवतार हैं, तो गिरीश ने कहा – अरे मूर्ख, यह तो बहुत छोटी बात है, श्रीरामकृष्ण तो वह हैं, जहाँ से सहस्त्रों अवतार जन्म लेते हैं। ऐसा था उनका विश्वास! तो जब हमें अपने इष्ट के प्रति ऐसा विश्वास होगा, तब हम भक्त की श्रेणी में आयेंगे और तब भगवान हमारी ठीक अर्जुन की तरह रक्षा करेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

प्रार्थना करते हैं – "हे सर्वशक्तिमात: त्रिपुरसुन्दरी ! सिद्धि का द्वार खोलो। इनका शरीर-मन पवित्र कर इनमें आविर्भूत हो सर्वकल्याण करो।" स्वामी विवेकानन्द माँ सारदा को जीवन्त दुर्गा मानते थे और बेलूड़ मठ में जीवन्त दुर्गा के रूप में सबने उनके चरणों में पुष्पांजलि अर्पित की थी।

स्वामी जीवानन्द जी द्वारा रचित माँ सारदा की वन्दना में उनके मूल स्वरूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है –

ब्रह्मशक्ति दिव्यरूप सर्वसृष्टिभासिकां,
ज्ञानभक्तिपूर्णमूर्ति नित्यसत्यसुस्थिराम्।
प्रेमभक्तिरागशुद्धि नित्य मोक्षदायिनीं
तां नमामि सारदां हि विश्वमातृरूपिणीम्।।

– श्री माँ सारदा ब्रह्म की अभिन्न शक्ति, दिव्यरूपा सम्पूर्ण चराचर जगत की प्रकाशिका, ज्ञान-भक्ति की पूर्ण मूर्ति तथा नित्य सत्य में सुस्थिर हैं। प्रेम-भक्ति, अनुराग, पवित्रता तथा नित्य मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं। ऐसी विश्वमातृस्वरूपिणी माँ सारदा को मैं नमस्कार करता हूँ।

माँ सारदा जगज्जननी पराम्बा हैं, जीवों के सन्ताप का नाश कर उन्हें मुक्ति देने के लिये इस संसार में आविर्भूत हुयी हैं।

अभिनव शक्तिपीठ और उसकी विशेषता

सती के शरीर के अंग कटकर जिन-जिन स्थानों में गिरे, वे स्थान शक्तिपीठ नाम से जाने जाते हैं। ५१ शक्तिपीठ हैं। शक्तिपीठ के दर्शन करने वाले भक्तों को माँ उनकी आकांक्षायें पूर्ण करती हैं। उन्हें अपनी भक्ति प्रदान कर उनके जीवन को शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण कर देती हैं। जैसे कामाख्या देवी के दर्शन की महिमा का वर्णन कालिकापुराण तथा देवीपुराण दोनों में ही मिलता है –

तेषु योनिपीठं कामगिरौ कामाख्या यत्र देवता।
कामाख्या परमं तीर्थं कामाख्या परमं तपः।
कामाख्या परमो धर्मः कामाख्या परमा गतिः।
कामाख्या परमं वित्तं कामाख्या परमं पदम्।
विभाव्यैवं मुनिश्रेष्ठ न पुनर्जन्मभाग्भवेत्।।

– महादेव जी नारदजी से कहते हैं – कामदगिरि पर्वत पर योनिपीठ है। यहाँ की शक्ति कामाख्या तथा भैरव उमानन्द (उमानाथ) हैं। हे मुनिश्रेष्ठ ! भगवती कामाख्या सर्वश्रेष्ठ तीर्थ हैं, वे सर्वश्रेष्ठ तपस्या हैं, उनका चिन्तन सर्वश्रेष्ठ तथा वे प्राणियों की सर्वोत्तम गति हैं, वे ही जीवन की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति और परम पद हैं। माता भगवती की इस प्रकार चिन्तन करने वाले का, इस भाव से उनकी उपासना करनेवाले भक्त का पुनर्जन्म नहीं होता, वह इस घोर भव-सागर से मुक्त हो जाता है।

बेलूड़ मठ में स्थित श्रीमाँ सारदा का मंदिर अभिनव शक्तिपीठ है। यहाँ माँ सारदा का सम्पूर्ण शरीर विद्यमान है। जहाँ उनके शरीर का अंतिम दाह-संस्कार किया गया था, ठीक उसी स्थान पर उनका मंदिर अवस्थित है।

'श्रीसारदा-देवी-सुप्रभातम्' में स्वामी अचलानन्द जी महाराज माँ सारदा के अवतरण का प्रयोजन बताते हैं –

मातः समस्त जगतां परमस्य पुंसः
शक्तिस्वरूपिणि शिवे करुणाद्रचित्ते।
लोकस्य शोकशमनाय कृतावतारे
श्रीसारदेऽस्तु शिवदे तव सुप्रभातम्।।

समस्त संसार की माता जग-जननी शक्तिस्वरूपिणी पराम्बा ने जीवों के दुख से दुखित हो, करुणाविगलित होकर उनके दुखों का नाश करने के लिये अवतार लिया। उनके दर्शन से शोक-ताप का शमन हो जाता है। प्रतिदिन सर्वशक्तिपीठस्वरूपिणी माँ सारदा का दर्शन कर अंसख्य भक्त अपने जीवन में शान्ति प्राप्त कर भगवान की ओर अग्रसर हो रहे हैं। श्रीमाँ का दर्शन करते ही उनकी अमोघ वाणी याद आती है – "याद रखो कि तुम्हारी एक माँ है।" माँ ने जीवन में शान्ति प्राप्त करने का मूल मन्त्र बताया था, उसकी स्मृति होती है – "यदि शान्ति चाहते हो तो किसी का दोष मत देखना, दोष केवल अपना ही देखना, संसार को अपना बनाना सीखो, कोई पराया नहीं है, सभी तुम्हारे अपने हैं।" मुझे ऐसा लगता है कि माँ अपनी चिर करुणा का द्वार सदा उन्मुक्त किये हमारी बाट खोज रही हैं। मानो माँ कह रही हों, आओ मेरे बेटे तुम अपने प्रारब्ध और संसार की ज्वाला से संतप्त और क्लान्त हो, आओ मेरी गोद की स्निग्ध शीतल वायु में विश्राम ले लो। तुम जैसे भी हो मेरी सन्तान हो, मेरी वात्सल्य-गोद और कृपा-स्नेह का आँचल हमेशा तुम्हारे लिये खुला है। आज भी माँ सारदा की वह शाश्वत वाणी भक्तों के हृदय में शान्ति और सान्त्वना प्रदान कर रही है। ये हमारी अन्नपूर्णा माँ हैं, जो हमारे योग-क्षेम की सारी व्यवस्था कर हमें बड़े ही प्रेम से अपने वात्सल्य से हमें सहज भाव से ईश्वर की ओर उन्मुख कर रही हैं। हमारे जीवन की समस्त बाधा-बिघ्नों का शमन कर उन्मुक्त हाथ से मुक्ति लुटा रही हैं। आवश्यकता है बस एकबार उनके श्री चरणों में, उनकी क्रोड़ में अपने आप को समर्पित कर देने की।

स्वामी विवेकानन्द-मन्दिर

४ जुलाई, १९०२ को स्वामी विवेकानन्द जी ने बेलूड़ मठ में ही महासमाधि ली। उनके पार्थिव शरीर का जहाँ दाह-संस्कार किया गया, वहीं माँ गंगा के पावन-तट पर उनकी स्मृति में २८ जनवरी, १९२४ को एक मंदिर का निर्माण किया गया। मंदिर के ग्राउन्ड फ्लोर में स्वामी विवेकानन्द जी की प्रतिमा है और मंदिर के ऊपरी मंजिल पर स्वामीजी के अनुसार ही एलाबेस्टर (अर्ध-पारदर्शक जिप्सम) ओम् बना हुआ है। ऐसे ही ओम्-मंदिर की स्वामीजी ने कभी

कल्पना की थी।

अभिनव ज्योतिर्लिंग

भारत में द्वादश ज्योतिर्लिंग हैं। भगवान शिव वहाँ अपने भक्तों को अभिप्सित फल प्रदान करते हैं। जैसे वाराणसी में विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग है। उनके दर्शन का क्या फल है? ब्रह्मवैवर्तपुराण में काशीपति विश्वनाथ जी के दर्शन के फल का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है –

काशी विश्वेश्वरं लिङ्गं ज्योतिर्लिङ्गं तदुच्यते।
तद्दृष्ट्वा परमं ज्योतिराप्नोति मनुजोत्तमः ।।

– काशी में स्थित विश्वेश्वर शिवलिंग ज्योतिर्लिंग है, उसका दर्शन करके उत्तम पुरुष परम ज्योति को प्राप्त करते हैं।

काश्यां श्रीदेवदेवस्य विश्वनाथस्य पूजनम्।
सर्वपापहरं पुंसामनन्ताभ्युदयावहम् ।। (शिवपुराण)

– काशी जी में देवाधिदेव महादेव विश्वनाथ जी का पूजन करनेवाले नर-नारियों के सभी पापसमूह नष्ट हो जाते हैं तथा काशी अनन्त अभ्युदयों को प्रदान करती है।

येषां स्मरणतोप्यत्र भवेत् पापस्य संक्षयः।
दर्शन-स्पर्शनाभ्याञ्च स्यातां स्वर्गापवर्गकौ ।।
(का.खं-७३/१४)

– पार्वती जी शंकर भगवान से कहती हैं कि काशी के विश्वेश्वर शिव के स्मरण करने मात्र से पापों का विनाश होता है तथा दर्शन एवं स्पर्शन से स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

स्वामी विवेकानन्द जी शिव के अवतार हैं। एक बार श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था – मैंने देखा कि वाराणसी से एक ज्योति सिमुलतला में आई है, वही नरेन्द्र है। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी शिष्य स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने बाल शिव के रूप में इनका दर्शन किया था। इसीलिये तो 'विवेकानन्द-गीति-स्तोत्रम्' में श्री शरत्चन्द्र चक्रवर्ती जी लिखते हैं – **मूर्त महेश्वरम् उज्ज्वल भास्करम् इष्टम् अमर नर-वन्द्यम्**। माँ सारदा के शिष्य स्वामी चण्डिकानन्द जी ने 'जय वीरेश्वर विवेक भास्कर जय जय श्री विवकानन्द' नामक गीत में इन्हें वीरेश्वर शिव से संबोधित किया तथा कर्म-ज्ञान-भक्ति को ही त्रिशूल बताया। माँ सारदा के ही शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने अपने गीत 'हे नरेन्द्र वीरेश्वर हृदयरंजन मोर' में स्वामीजी के शिव रूप की अभिव्यक्ति दी। जैसे ऋषिकेष के कैलाश मठ में स्वामी धनराज गिरी जी द्वारा स्थापित स्वयंभू अभिनव चन्द्रेश्वर शिव हैं, जैसे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नये विश्वनाथ जी हैं, इनके दर्शन से हजारों भक्तों को भक्ति-मुक्ति मिलती है, परम कल्याण होता है। वैसे ही बेलूड़ मठ में स्थित स्वामी विवेकानन्द-मंदिर अभिनव ज्योतिर्लिंग है। यह ज्योतिर्लिंग 'विवेकानन्द ज्योतिर्लिंग' के नाम से विश्व-विख्यात् है। ये विवेकेश्वर महादेव हैं। बेलूड़ मठ स्वामी विवेकानन्द जी के निवास और भ्रमण से धन्य हो चुका है। उनके पावन पद-रज बेलूड़ मठ के प्रत्येक कण-कण में विद्यमान हैं। वहाँ का कण-कण जाग्रत एवं चैतन्य है। जैसे काशी का कंकर-कंकर शंकर है। वैसे ही बेलूड़ मठ का कण-कण विवेक, आनन्द और चैतन्य से परिपूर्ण विवेकानन्दमय है। स्वामी विवेकानन्द जी का कक्ष और स्वामी विवेकानन्द-स्मृति-मन्दिर, जहाँ स्वामीजी का अन्तिम संस्कार किया गया था। वह स्थान इतना जाग्रत है कि वहाँ जाते ही नयी ऊर्जा एवं नव शक्ति संचारित होने लगती है। स्वामी विवेकानन्द जी की कृपा-कटाक्ष से भुक्ति-मुक्ति की प्राप्ति तथा पाप-समूह का विनाश होता है – **भुक्ति-मुक्ति कृपा-कटाक्ष-प्रेक्षण अघ-दल-विदलनदक्षम्**। इस अभिनव ज्योतिर्लिंग विवेकेश्वर महादेव के दर्शन से मनुष्य के षट्रिपु, प्रमाद, आलस्य और अज्ञानता का विनाश हो जाता है तथा जीवन में विवेक-वैराग्य, पुरुषार्थ, त्याग, परोपकार और सेवा की प्रेरणा मिलती है। उनका अग्निमन्त्र – 'उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति तक रुको मत' का भाव वहाँ के वायुमंडल में गुँजता रहता है, जो दर्शनार्थियों में प्रबल उत्साह से लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है।

बिल्व-वृक्ष – स्वामी विवेकान्द मंदिर के बगल में पहले के ही मूल बिल्व-वृक्ष के स्थान पर एक बिल्व-वृक्ष है, जहाँ स्वामीजी बैठा करते थे तथा उनकी इच्छानुसार ही उसके पास ही उनके शरीर का दाह-संस्कार किया गया था।

समाधि-स्मारक – श्रीरामकृष्ण के सोलह संन्यासी शिष्यों में से सात का दाह-संस्कार यहीं किया गया। संगमर्मर के फलक पर उनके नाम अंकित हैं। यह स्मारक उन संन्यासियों के त्याग-तपस्या, मानवता की सेवा हेतु आजीवन समर्पित और ईश्वरनिष्ठ जीवन की स्मृति दिलाता है तथा हमारे जीवन को ऊच्च आदर्श की ओर अग्रसर होने हेतु प्रेरणा प्रदान करता है।

पुराना मठ – यह स्थान मूलत: एक गृहस्थ-भक्त नीलाम्बर मुखर्जी का था, जो 'नीलाम्बर बाबू का उद्यान-भवन' नाम से परिचित था। यह थोड़ा आगे दक्षिण की ओर गंगा-तट पर अवस्थित है। बेलूड़ मठ बनने के पहले श्रीमाँ सारदा देवी यहाँ अनेकों बार रहा करती थीं। इसी भवन के सबसे ऊपरी छत पर ही सन् १८९३ को श्रीमाँ 'पंचतपा व्रत' की थीं। चूँकि १३ फरवरी, १८९८ से लेकर १ जनवरी, १८९९ वर्तमान परिसर में स्थानान्तरित होने के पहले तक रामकृष्ण मठ इसी भवन में था, इसलिये इसे पुराना मठ कहते हैं।

त्रिधन्य बेलूड़ मठ

श्रीरामकृष्णदेव की दिव्य दृष्टि से धन्य – एक बार श्रीरामकृष्ण गंगाजी में नाव से जा रहे थे। उस समय बेलूड़

मठ की जमीन खाली थी। उस जमीन को देखकर उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की थी। बेलूड़ मठ की भूमि उनके दिव्य अवलोकन से धन्य है।

माँ सारदा देवी के निवास से धन्य – बेलूड़ मठ की भूमि श्रीमाँ सारदा के पावन पद-रज से धन्य हुई है। वे कई बार यहाँ आई थीं। उनकी पवित्र उपस्थिति से मठ का परिवेश दिव्य हो गया है। यहीं पर उनकी सन्तानें जगज्जननी जगदम्बा दुर्गा के रूप में उनकी पूजा कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त की थीं।

स्वामी विवेकानन्द के पावन निवास से धन्य – बेलूड़ मठ बनने के बाद से स्वामी विवेकानन्द जी अधिकतर यहीं निवास करते थे तथा अपने बेलूड़ मठ के निवास-कक्ष में ही उन्होंने महासमाधि ली। उनके दैनिक जीवन की बहुत सी स्मृतियाँ यहाँ विद्यमान हैं, जिसे समय-समय पर उनके गुरुभाईयों और शिष्यों ने लिख कर रखा था। वे स्मृतियाँ आज समाज को दिशा प्रदान कर रही हैं।

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द जी के तपस्वी शिष्यों के निवास से पवित्र-प्रांगण – बेलूड़ मठ श्रीश्री ठाकुर, माँ और स्वामीजी के संन्यासी शिष्यों के तप-साधनामय जीवन का साक्षी है। मठ का प्रत्येक रज-कण उन तपस्वी यतियों के पावन पद-रज से पवित्र है।

पावन अस्थियाँ – बेलूड़ मठ में भगवान श्रीरामकृष्ण, जगज्जननी माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द और इनके गुरुभाईयों की पावन अस्थियाँ विद्यामान हैं।

रामकृष्ण संग्रहालय – श्रीरामकृष्ण भावधारा से संबंधित यह विश्व का प्रमुख संग्रहालय है। इस संग्रहालय में श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द और श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों द्वारा व्यवहृत बहुत सी सामग्रियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। इससे ऐतिहासिक प्रामाणिकता की सिद्धि के साथ-ही-साथ भक्तों को अपने प्रेमास्पद इष्ट द्वारा व्यवहृत वस्तुओं को देखकर भक्ति का उद्रेक होता है। भगवान की स्मृति होती है। परमात्मा के प्रति प्रेम में वृद्धि होती है तथा भक्ति उच्छ्वसित होकर भावनात्मक तदाकारिता होती है।

सर्वधर्म-समन्वय का प्रतीक

भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने हिन्दू-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों, इसाई धर्म, मुस्लिम धर्म की साधना करके यह अनुभूति प्राप्त की कि सभी सम्प्रदाय और धर्म सत्य हैं तथा ईश्वर प्राप्ति के साधन हैं। मानव किसी भी मार्ग से ईश्वर को प्राप्त कर सकता है – 'जितने मत उतने पथ'। श्रीरामकृष्ण का उदात्त व्यक्तित्व सर्वमतवादियों-सर्वधर्मानुयाइयों को उन्मुक्त हृदय से आमन्त्रण देता है। बेलूड़ मठ सर्वधर्मावलम्बियों को परमात्म पथ पर, अपने-अपने अभिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में सहायता प्रदान करता है।

सबके लिये खुला है मन्दिर ये है हमारा

संत तुकड्या जी का एक बहुत ही विख्यात भजन है, जिसे मैं अपने विशेष-शिविर निर्देशन के दौरान सायंकालीन सर्वधर्म-प्रार्थना के समय गवाया करता था। ऐसा लगता है कि उस भजन का मूर्तरूप यह श्रीरामकृष्ण का मन्दिर है। उस भजन की केवल दो कड़ी मैं यहाँ प्रस्तुत करता हूँ –

सबके लिये खुला है मन्दिर ये है हमारा।
मतभेद को भुलाता है मन्दिर ये है हमारा।।
आओ सभी ही पन्थी, आओ सभी ही धर्मी।
देशी-विदेशियों का मन्दिर ये है हमारा।।..

श्रीरामकृष्णदेव का मन्दिर देश-विदेश के सभी जाति-धर्म-सम्प्रदाय के व्यक्तियों के लिये खुला है। इसमें प्रवेश की किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। बस आइये ! और शान्त चित्त से अपने इष्ट में तल्लीन होकर परम शान्ति और आनन्द में निमग्न हो जाइये।

बेलूड़ मठ से स्वामीजी की आशा

एक बार एक पत्रकार ने स्वामी विवेकानन्द जी से एक प्रश्न पूछा – "भारत के इस पुनरुत्थान में रामकृष्ण मिशन का कौन सा योगदान है?" प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने कहा – "इस मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर सारे संसार को आध्यात्मिकता की बाढ़ से आप्लावित कर देंगे।"

स्वप्न साकार हो रहा

ऐसे ही चरित्रवान व्यक्तियों के निर्माण हेतु बेलूड़ मठ में **ब्रह्मचारी प्रशिक्षण केन्द्र** है, जहाँ आत्मनोमोक्षार्थं जगद्धिताय के आदर्श पर स्वयं को वलिदान करनेवाले युवाओं को त्याग-तप, संयम, नैतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक और सभी धर्मों की शिक्षा प्रदान की जाती है तथा आध्यात्मिक साधना करायी जाती है। इसमें से निकले प्रशिक्षित युवा ब्रह्मचारी-संन्यासी ही स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा प्रवर्तित संघ के केन्द्रों का दायित्व वहन कर उनके सपनों को साकार करने में प्राण-पण से प्रयत्नशील हैं।

इस प्रकार बेलूड़ मठ एक महिमावान परम पावन धाम है। यह अद्वितीय और अनुपम है। इस धाम की विलक्षणता और विशिष्टता का हार्दिक अनुभव स्वयं वहाँ जाकर, उन महापुरुषों के प्रति भक्ति-भाव से पूरित चित्त होकर ही किया जा सकता है। बेलूड़ मठ की महिमा पर एक बृहत् ग्रन्थ लिखा जा सकता है। किन्तु निबन्ध की अपनी मर्यादा होती है। इसलिये यह लेख बेलूड़ मठ का केवल एक झलक प्रस्तुत करता है। विस्तृत जानकारी हेतु पाठक स्वयं वहाँ की यात्रा करें तथा अन्यान्य भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकों में बेलूड़ मठ की दिव्यता का अनुसन्धान करें। जय रामकृष्ण !!!

बुद्ध, शंकराचार्य और विवेकानन्द

नवीन दीक्षित

(भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त अनुसन्धान वृत्ति पर कार्य करते हुये लिखा गया लेख।)

स्वामीजी बचपन से ही गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रति काफी आकर्षित थे। अपनी किशोरावस्था में ही ध्यान करते समय एक बार उन्हें बुद्धदेव का दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ था। बाद में अपने गुरुदेव की अन्तिम बीमारी के समय वे सहसा अपने दो गुरुभाइयों के साथ बोधगया जा पहुँचे और वहाँ ध्यानमग्न हो गये। बुद्ध का समस्त प्राणियों के प्रति करुणा भाव था। उनके जैसे नि:स्वार्थ कर्मयोगी सर्वथा विरल हैं। बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन केवल सर्वभूतों के प्रति करुणा की प्रेरक शक्ति से परिचालित था। ऐसा लगता है कि बुद्ध के संगठनात्मक रूप से सम्पन्न लोकोपयोगी कार्यों से स्वामीजी को प्रेरणा प्राप्त हुई थी, तभी तो उन्होंने कहा था, ''भगवान बुद्ध सर्वश्रेष्ठ मानव और अद्‌भुत संगठनकर्ता थे।''[१] वे उनके भाव, कर्म और विचार शक्ति के भी प्रशंसक थे, ''बुद्ध के पास दूसरों के दु:खों को अनुभव करने के लिये हृदय, दु:खों का उपचार सोचने के लिये मेधा और प्रस्तावित कार्यों के लिये कर्मशक्ति विद्यमान थी।''[२] बुद्ध के लोकप्रिय वचन की 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' और रामकृष्ण मिशन के आदर्श वाक्य 'आत्मनो मोक्षार्थ जगत् हिताय च' (अपनी मुक्ति और लोकहित के लिये) – में काफी समानता दिखाई देती है। वैसे रामकृष्ण मिशन का आदर्श अधिक सूक्ष्म और मार्मिक प्रतीत होता है। स्वामीजी तीन प्रकार के दान की चर्चा करते हैं। प्रथमत: अन्नदान के रूप में व्यक्ति की भौतिक जरूरतों की पूर्ति करना। द्वितीयत: लौकिक विद्या का दान जैसे अक्षर-ज्ञान, विज्ञान आदि की शिक्षा द्वारा स्वावलम्बन सिखाना। तृतीयत: व्यक्ति की मुक्ति के लिये आध्यात्मिक शिक्षा या ज्ञानदान। स्वामीजी के मत में तीसरा दान ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वामीजी ने लोकहित की अपनी अवधारणा – सेवायोग में इन तीनों ही दानों को शामिल किया है।

बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रति समर्पण भाव प्रदर्शित करने के बावजूद स्वामीजी उनके दर्शन को ग्रहण नहीं कर सके थे, ''अपने सारे जीवन भर मैं बुद्ध का परम अनुरागी रहा हूँ, परन्तु उनके सिद्धान्त का नहीं।''[३] बुद्ध-दर्शन की समालोचना से समकालीन भारतीय दर्शन में मौलिक अवदान करते हुये उन्होंने भारतीय चिन्तन के नैरन्तर्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। प्रथमत: उनके विचार से बुद्ध की सारी शिक्षायें उपनिषदों में विद्यमान थीं। द्वितीयत: बुद्ध ने जीवन की अतिशय निषेधात्मक व्याख्या की और इसी के परिणामस्वरूप उत्सव-प्रेमी भारत से बौद्ध धर्म-दर्शन विदा हो गया। तृतीयत: संन्यासवाद या वैराग्यवाद पर अतिशय आग्रह ने समाज को क्षीण कर दिया। अपरिपक्व मस्तिष्कों ने अपने देव-दनुजों की सृष्टि कर ली। चतुर्थत: स्त्री-पुरुषों की समता के मूलभूत उदार विचार के असावधानीपूर्वक पालन से वीभत्स वामाचारी सम्प्रदाय की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

स्वामीजी बुद्ध को एक वेदान्ती संन्यासी ही मानते थे। उनका दर्शन उपनिषदों पर ही आधारित था। स्वामीजी के परवर्ती चिन्तकों के नवीनतम शोधों ने भी उन्हीं के दृष्टिकोण की पुष्टि की है। डॉ. एस. राधाकृष्णन ने 'भारतीय दर्शन' नामक अपने सुप्रतिष्ठित ग्रंथ में लिखा है, ''प्राचीन बौद्ध दर्शन, एक नवीन दृष्टिकोण से ही सही, उपनिषदों के विचारों का पुनर्कथन मात्र है।'' किन्तु बुद्ध द्वारा इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख न करके, एक नव-आन्दोलन का सूत्रपात किये जाने में महान खतरा निहित था। स्वामीजी के मार्मिक कथन द्रष्टव्य हैं, ''बुद्ध के उपदेश में खतरे का एक तत्व था – वह एक सुधारक धर्म था। जिस विराट् आध्यात्मिक परिवर्तन को उन्होंने निष्पन्न किया, उसको लाने के लिये उन्हें अनेक नकारात्मक शिक्षायें देनी पड़ी। किन्तु यदि कोई धर्म नकारात्मक पक्ष को अत्यधिक महत्व देता है, तो अन्तत: उसके नष्ट हो जाने का खतरा भी रहता है।''[४] जनता के अभ्यस्त मार्गों के विरुद्ध जाना बुद्ध और उनके अनुयायियों के लिये आवश्यक था, क्योंकि उन्हें क्रान्तिकारी परिवर्तन करने थे। क्या इस नवीन धर्म-आन्दोलन ने भारतीय संस्कृति के नैरन्तर्य को बनाये रखा या फिर राष्ट्रीय जीवन में नवीन उत्साह भरने के बावजूद इसको दुष्प्रभावित किया? स्वामीजी का निष्कर्ष इन चौंकाने वाले शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है, ''बुद्ध ने हमें (भारत को) नष्ट कर दिया।''[५] पर साथ ही वे अपनी समीक्षा 'बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म का परिपूरक' बताकर शुरू करते हैं।[६] दोनों कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। दोनों में समन्वय कराने के लिये उनका एक और कथन आवश्यक है, 'हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना ही।''[७] यहाँ स्वामीजी का आशय हिन्दुओं के वेदान्ती मस्तिष्क और बौद्धों के विशाल हृदय के समन्वय से है। सार्वभौम धर्म के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में सर्वधर्म-समन्वय की भूमिका के प्रति पूर्णत: अभिज्ञ स्वामीजी प्रत्येक धर्म में पुनर्रचना के दौरों को अवश्यम्भावी मानते हुए इसके अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों की दिशा को उसके अभीप्सित लक्ष्य की ओर निर्देशित करते हैं। यदि ऐसा न हो

तो विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। नव-बुद्ध सम्प्रदायवाद के कारण ऐसा ही हुआ। स्वामीजी धर्म और सम्प्रदाय में स्पष्ट भेद करते हैं, "मैं धर्म और सम्प्रदाय में अन्तर मानता हूँ। धर्म समस्त प्रचलित सम्प्रदायों को यह मानकर स्वीकार करता है कि वे एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त एक ही प्रकार के प्रयास हैं। सम्प्रदाय कुछ विरोधी और संघर्षात्मक होता है।"[८] यदि बुद्ध के अनुयायी, बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मानते, तो इसका खण्डनात्मक स्वरूप इतना प्रबल नहीं होता और इतने अनावश्यक परिवर्तनों में व्यय हुई शक्ति और संघर्ष से बच जाता। यहाँ स्वामीजी के वैदिक परम्परा के प्रति निष्ठावान चिन्तक होने के कारण ऐसा मत रखने की शंका भी उठ सकती है, जो किसी भी अपरम्परागत नवीन परिवर्तन के प्रति अनिच्छुक और अनुदार हो। प्राय: स्वामीजी के पारम्परिक बाह्य स्वरूप के कारण उनका यथार्थवादी, वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी स्वरूप छिप-सा जाता है। परम्परा-विमुखता के मापदण्ड और सतही निरीक्षण से उनके मौलिक अवदान में कुछ विद्धानों को भी शंका हुई है। किन्तु वस्तु-स्थिति ठीक इसके विपरीत है। स्वामीजी ने बुद्ध को वशिष्ठ और विश्वामित्र से महान् बताया, क्योंकि वेद को प्रमाण न माननेवाले, यज्ञ में पशुबलि का निषेध करनेवाले तथा जाति-भेद में शिथिलता बरतनेवाले करुणावतार भगवान बुद्ध ने हर प्रकार के विशेषाधिकारों को समाप्त करके धर्म और निर्वाण को सबके लिये सुलभ बना दिया था। क्या किसी रूढ़िवादी चिन्तक से ऐसे विचार की कल्पना भी की जा सकती है? अपने खण्डनात्मक स्वरूप के कारण बौद्ध धर्म को भारत से विदा लेनी पड़ी, किन्तु सर्वभूतों के प्रति करुणा के भाव के रूप में बुद्ध का वास्तविक सकारात्मक जीवन-दर्शन वैष्णवों की 'जीव-दया' के रूप में भारत में बचा रहा गया, जो रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा में आकर 'शिवभाव से जीवसेवा में विकसित हो गया।

मानव की जिज्ञासा का दमन नहीं किया जा सकता। बौद्धों ने ईश्वर और आत्मा जैसे अव्यक्त परातात्त्विक तत्त्वों को पूर्णत: नकार देने की चेष्टा की, किन्तु अति पुरातन काल से भारतीयों द्वारा पोषित होती ये धारणायें, उसके मानस-पटल पर सुप्त होने पर भी, कभी लुप्त नहीं हुई। शंकराचार्य के अवतरण ने उन धरणाओं को पुन: जाग्रत और सक्रिय कर दिया। उनके साहसिक तथा प्रचण्ड कार्य बौद्ध धर्म के स्थान पर वेद प्रणीत सनातन धर्म की पुन: प्रतिष्ठा कर दी। अब पुन: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पुरुषार्थ-व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन का संचालन और नियमन करने लगी।

भारतीय दर्शन के विकास के प्रत्येक चरण यथा वैदिक देववाद, उपनिषदों के विभिन्न वेदान्तवाद और भगवद्गीता के ईश्वरवाद – सभी में सीमित जगत् का आधार असीमित ब्रह्म है, जैसे सागर की लहरें अपने अस्तित्व के लिये सागर पर निर्भर हैं। बिना सागर के लहरें नहीं हो सकतीं। बिना ब्रह्म के जगत् नहीं हो सकता। यदि जगत् केवल परछाई या आभास भी माना जाये, तो भी वह बिना किसी आधार या आश्रय के नहीं रह सकता। अब समस्या यह बची कि जगत् ब्रह्म पर किस तरह आधारित है? दोनों के मध्य कौन-सा सम्बन्ध है? यदि जगत् को बह्म का परिणाम या विकार माना जाये, तो ब्रह्म विकारी होने से अनित्य हो जाते हैं। कार्य-कारणवाद सिद्धान्त में, कार्य बिल्कुल नवीन सृष्टि नहीं, बल्कि अवस्था परिवर्तन मात्र है। दूध और दही नितान्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं, किन्तु ब्रह्म और जगत् विपरीत स्वभाव के हैं। एक है अनन्त तो दूसरा सान्त। एक नित्य तो दूसरा अनित्य। तब विपरीत स्वभाववाला जगत् ईश्वर पर कैसे आश्रित होगा? शंकराचार्य ने इसका समाधान अपने 'अध्यास' के सिद्धान्त द्वारा किया है। एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के गुणों का मिथ्या आरोप करना अध्यास है। जैसे रस्सी भ्रमवश साँप दिखाई देती है, वैसे ही ब्रह्म-माया (अनादि अज्ञान) के कारण जगत् के रूप में दिखाई देने लगता है। जैसे रस्सी-साँप के भ्रम में, रस्सी वास्तव में साँप नहीं बन जाती, बल्कि बनी हुई-सी प्रतीत होती है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत् नहीं बन जाता, बल्कि वैसा प्रतीत होता है। जैसे रस्सी विपरीत स्वभाव वाले साँप का आश्रय होते हुए भी उससे अलिप्त रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् का आश्रय होकर भी उससे अलिप्त रहता है। शंकर का यह समाधान सर्वथा मौलिक एवं अपूर्व था। उनके पहले के दार्शनिक साहित्य में यह अप्राप्त है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द शंकर के प्रशंसक थे। इतना ही नहीं, वे बुद्ध के हृदय के साथ शंकर के मस्तिष्क के समन्वय के अभिलाषी थे। उनके दार्शनिक विचार बहुत अंशों में शंकराचार्य के दर्शन से साम्य रखते हैं। इनकी साम्यता के कारण कुछ आधुनिक विद्वान् दोनों को एक ही मान लेते हैं और शंकराचार्य के दर्शन में विवेकानन्द के द्वारा किसी भी नवीन योगदान को अस्वीकृत करते हैं। इस भ्रम का कारण उनके द्वारा किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना की अनिच्छा और वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष अर्थात अध्यात्म पर जोर देना है। बौद्ध-दर्शन के विवेचन में स्पष्ट हुआ कि स्वामीजी सम्प्रदायवाद के दोषों से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने वेदान्त के सम्प्रदायों – द्वैत, विशिष्टद्वैत और अद्वैत तीनों का ही समन्वय किया है और तीनों को सत्य के अनुसन्धान के विभिन्न चरण माना है। वे कोई अकादमीय दार्शनिक नहीं थे, जो सुनियोजित रीति से कोई दार्शनिक सम्प्रदाय खड़ा करते। तो भी बिना किसी नवीनता के दावे के, बड़ी ही शान्ति और शालीनता के साथ वेदान्त के विभिन्न पहलुओं में जो मौलिक अवदान दिया है, वह संक्षेप में इस प्रकार है, (१) ब्रह्म के सगुण-निर्गुण –

दोनों रूपों को समान महत्व देना (२) सच्चिदानन्द ब्रह्म में 'आनन्द'-स्वरूप लक्षण के मूल में 'प्रेम' को स्वीकार करके अद्वैत वेदान्त में भक्ति का मार्ग प्रशस्त करना (३) मायावाद का नवीन अर्थ-निरूपण (४) जगत् के मिथ्यात्व पर अधिक जोर देने की जगह, ब्रह्म के सत्यत्व पर अधिक आग्रह रखना (५) जीव (मानव) के भौतिक स्वरूप की उपेक्षा न करना, (६) मुक्ति की संकल्पना में बिल्कुल नया आयाम जोड़ना और मोक्ष-साधन के रूप में चारों योगों – ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा ध्यान को समान महत्व देने के बाद भी दरिद्र-नारायण की सेवा के रूप में कर्मयोग का एक बिल्कुल नवीन आयाम प्रस्तुत करना आदि कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। यह सत्य है कि स्वामीजी ने शंकराचार्य के दर्शन का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था, परन्तु बिना समीक्षा के कुछ ग्रहण करना उनका स्वभाव नहीं था। अपने बराहनगर मठ में निवास-काल एवं परिव्रजन के दौरान उनका वाराणसी के शास्त्रज्ञ विद्वान् प्रमदादास मित्र से सम्पर्क हुआ था। इसी कालखण्ड में स्वामीजी जाति-वर्ण की समस्या पर शंकराचार्य के दृष्टिकोण को विभिन्न स्रोतों से जानने और समझने के लिये उत्सुक थे। यद्यपि अपने गुरुदेव की कृपा से उनके इस सम्बन्ध में पहले से ही स्पष्ट विचार थे, किन्तु वे इनकी पुष्टि कर लेना चाहते थे। ७ अगस्त, १८८९ को प्रमदाबाबू को लिखे पत्र में पूछे अनेक प्रश्नों में से एक निम्नलिखित है –

''श्री शंकराचार्य ने वेदों से इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया कि शूद्र वेदाध्ययन का अधिकारी नहीं। उन्होंने केवल 'यज्ञेऽनवक्लृत:' का प्रमाण इसलिये दिया है कि जब (शूद्र) यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है, तो अवश्य ही उपनिषदादि पढ़ने का भी उसे अधिकार नहीं है। परन्तु उन्हीं आचार्य ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की व्याख्या करते हुये 'अथ' के सम्बन्ध में कहा है कि उसका अभिप्राय 'वेदाध्ययन के पश्चात् नहीं है, क्योंकि पद प्रमाण के विरुद्ध पड़ता है संहिता और ब्राह्मण भाग का अध्ययन किये बिना उपनिषद् नहीं पढ़े जा सकते और साथ ही वैदिक कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में कोई पूर्वापर भाव नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि वेदों के कर्मकाण्डीय ज्ञान के बिना भी किसी को उपनिषद् पढ़कर ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतएव यदि कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड में कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है, तो शूद्रों के विषय में 'न्याय-पूर्वकम्' आदि वाक्यों द्वारा आचार्य अपने वाक्यों को ही खण्डित कर रहे हैं? शूद्र को उपनिषदों का अध्ययन क्यों नहीं करना चाहिये?''[९] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शंकराचार्य के कथनों में उपस्थित असामंजस्य स्वामीजी के मन को व्यथित किये हुए था। उनका आगामी निर्णय काफी चुनौतीपूर्ण होने वाला था, ''पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और नीच जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं।''[१०] वेदान्त या हिन्दू धर्म के अतिरिक्त दुनिया का कोई भी धर्म, ईश्वर और मनुष्य के बीच की खाई को पाटने का प्रयास नहीं करता। केवल वेदान्त अपने 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों के द्वारा मनुष्य को ईश्वरतुल्य बना देता है। ऐसा उदात्त दर्शन होने के बावजूद भारतीय सामाजिक जीवन में मानव-मानव के बीच भेद और शोषण क्यों दिखाई दिया? उत्तर है – विशेषाधिकार का दावा। मोक्ष के अधिकारीत्व में वर्गभेद को स्वीकार न करना और मोक्ष के साधनरूप उपनिषद् आदि का अध्ययन वर्जित करने में अन्तर्विरोध विद्यमान है। स्वामीजी इस जघन्य निष्ठुरता को उजागर ही नहीं करते, बल्कि अपने नव्य-वेदान्त में वेदान्त को सर्वसुलभ करके इसका व्यावहारिक निदान भी प्रस्तुत कर देते हैं।

वस्तुत: शंकर की बुद्धि और बुद्ध की सद्भावना का समन्वय स्वामीजी के व्यक्तित्व, विचार और कार्यों में हुआ है। उनका अभिनव समाज-दर्शन अद्वैत वेदान्त के एकत्व के भाव को व्यावहारिक जीवन में लागू करके शोषणहीन समाज की रचना का मार्ग प्रशस्त कर देता है। उनमें आकर वेदान्त व्यावहारिक मोड़ लेता है। लगता है कि उनके इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचारों का अवलोकन करने के उपरान्त ही डॉ. अम्बेडकर को आधुनिक भारत का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष निरूपित किया था। यह प्रशस्ति इसलिये भी मूल्यवान है, क्योंकि कोई सहमत हो या न हो, स्वयं डॉ. अम्बेडकर ने वेद और महाभारत आदि में वर्णित समाज-व्यवस्था की कठोर समालोचना की है। बहुत सम्भव हो कि भारतीय संविधान में वर्णित 'समानता के अधिकार' की पृष्ठभूमि में बाबा साहब के माध्यम से स्वामीजी का उपर्युक्त समन्वयकारी विचार ही विद्यमान रहा हो। स्वामीजी के अवदान के कारण आधुनिक भारत के पास एक समृद्ध विचार मौजूद है। विभिन्न क्षेत्रों में इसके अधिकाधिक प्रयोग से ही भारत का उत्कर्ष सम्भव है।

---

१. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol 5, Pp. 230
२. Swami Vivekananda in the West, Gargi, Vol 5, Pp. 386
३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. २११; ४. वही, पृ. २१०
५. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol 5, Pp. 545
६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. २३; ७. वही, पृ. २५
८. वही, खण्ड ८, पृ. २९३-९४
९. वही, खण्ड १, पृ. ३३९-४०
१०. वही, खण्ड १, पृ. ४०३-०४

श्रीमाँ सारदादेवी स्मृति मंदिर, कोठार, जिला – भद्रक (उड़ीसा)

एक आवेदन

कोठार स्थित श्रीमाँ सारदा देवी स्मृति मंदिर रामकृष्ण मठ, बेलुड़ के परामर्शानुसार संचालित उड़ीसा रामकृष्ण-विवेकानन्द भावप्रचार परिषद् का एक सदस्य आश्रम है। यह आश्रम हावड़ा भुवनेश्वर रेलपथ पर स्थित भद्रक रेलवे स्टेशन से करीब १८ किलोमीटर दूर स्थित है। कोठार में भगवान श्रीरामकृष्ण के एक महान् भक्त तथा उनके चार रसददारों में से एक श्री बलराम बसु की पैतृक सम्पत्ति थी। उन्हीं के पैतृक भवन को कोठार आश्रम में रूपान्तरित किया गया है। यह स्थान अति पवित्र है, क्योंकि यहाँ श्री बलराम बसु के गृह-देवता श्री राधाश्यामचन्दजी शताधिक वर्षों से पूजित होते आ रहे हैं। साथ ही जगन्नाथ, बलराम एवं सुभद्रा की जिन मूर्तियों से सुशोभित रथ को स्वयं भगवान श्रीरामकृष्ण ने बलराम बसु के बागबाजार (कोलकाता) स्थित आवासगृह पर खींचा था, वे मूर्तियाँ भी सन् १९४२ से यहाँ पूजित हो रही हैं। सन् १९१०-११ में श्री माँ सारदादेवी के द्वारा दो महीनों से भी अधिक काल तक यहाँ अवस्थान तथा भगवान श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी अखण्डानन्द एवं स्वामी सुबोधानन्द के आगमन से यह स्थान आध्यात्मिक रूप से और भी अधिक स्पन्दित हुआ है। यहाँ अपने अवस्थान काल में माँ सारदा ने अपने देवीत्व, मातृत्व तथा अपनी महान आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश किया था। स्वामी सुबोधानन्द ने कोठारेश्वरी देवी की पूजा की थी।

प्रधानत: श्री एस. के. नियोगी (तत्कालीन कार्यकारी, अभियंता, दूरसंचार विभाग, कटक) के नेतृत्व में भक्तों के एक छोटे से दल ने सन् १९९७ में जीर्ण-शीर्ण मकान के मरम्मत का कार्य प्रारम्भ किया। रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन, भुवनेश्वर के प्रधान तथा उड़ीसा रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव प्रचार के अध्यक्ष स्वामी शिवेश्वरानन्द जी के परामर्शानुसार एक कमेटी गठित की गयी। हाल ही में स्वामी मुमुक्षानन्द जी, स्वामी शिवमयानन्द जी एवं स्वामी तद्गतानन्द जी (सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना) आदि कुछ वरिष्ठ संन्यासीगण तथा कुछ उत्साही गृही भक्तों ने श्री एस. के नियोगी के साथ विचार-विमर्श कर स्मृति मंदिर के उद्देश्यों पर आधारित निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किये –

१. जराजीर्ण विशाल भवन के मरम्मत का कार्य पूर्ण करना।
२. मकान के अप्राप्त अंश का अधिग्रहण करना।
३. चहारदीवारी का निर्माण करना।
४. होम्योपैथी डिस्पेन्सरी चालू करना।
५. साधुओं एवं भक्तों हेतु साधनालय की व्यवस्था करना।
६. बेरोजगार युवकों के लिए औद्योगिक प्रशिक्षण कार्यक्रम चाालू करना, जिसमें मोबाइल फोन, टी.वी. सेट, स्कूटर, मोटर साइकिल, पावर टिलर आदि के मरम्मत-कार्य सिखाये जायेंगे। साथ ही, मत्स्य-पालन एवं कृमि-खाद उत्पादन आदि प्रशिक्षण भी दिये जायेंगे।
७. बच्चों के लिये कोचिंग क्लास तथा दूध-वितरण।
८. श्रीमाँ सारदादेवी के कोठार पर्दापण की शताब्दी के उपलक्ष्य में ५ दिसम्बर २०१० को एक स्मारिका का प्रकाशन करना।

उपरोक्त कार्यक्रम के कार्यान्वयन हेतु आनुमानिक आवश्यक राशि निम्नलिखित है –

औद्योगिक प्रशिक्षण (वार्षिक)	५ लाख रुपये
मकान मरम्मत एवं चहारदीवारी	५ लाख रुपये
होम्योपैथी डिस्पेन्सरी (फर्नीचर सहित)	५० हजार रुपये
श्री माँ सारदा देवी शिशु उद्यान ...	१ लाख ५० हजार रुपये
संन्यासियों हेतु साधनालय	४ लाख रुपये
भक्तों हेतु साधनालय	४ लाख रुपये
नये आवासिक व्यवस्था हेतु फर्नीचर	२ लाख रुपये
कुल	२२ लाख रुपये

हम भगवान श्रीरामकृष्ण श्री माँ सारदा देवी एवं स्वामी विवेकानन्द के सभी भक्तों तथा अनुरागियों से श्रीमाँ सारदादेवी द्वारा पवित्रीकृत कोठार आश्रम के इन प्रंशनीय कार्यों को पूर्ण करने हेतु उदारपूर्वक दान देना का आह्वान करते हैं। "Shree Maa Sarada Devi Smruti Mandir, Kother " इस नाम के नकद, चेक अथवा ड्राफ्ट द्वारा अपना दान दे सकते हैं। 'श्रीमाँ सारदा देवी स्मृति मंदिर' को दिया गया दान आयकर अधिनियम की धारा ८०-जी के अन्तर्गत कर मुक्त है।

१० अगस्त, २०१०

स्वामी शिवेश्वरानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन, भुवनेश्वर तथा अध्यक्ष, उड़ीसा रामकृष्ण-विवेकानन्द भावप्रचार परिषद

श्री एस. के नियोगी,
महासचिव
श्रीमाँ सारदादेवी स्मृति मंदिर
कोठार,
जिला - भद्रक (उड़ीसा)